



हम
वापस
आएंगे

खुशींद अनवर

हम वापस आएं

खुशीद अनवर

हम वापस आएंगे
(पुस्तिका सीरीज़—59)

प्रकाशक :

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका,

नई दिल्ली-110067, भारत

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com

वेबसाइट : www.isd.net.in / www.sach.org.in

मुद्रक :

डिजाइन्स एंड डाइमेंशन्स

एल-5 ए, शेख सराय, फेज़-2

नई दिल्ली-110017

प्रकाशन वर्ष : 2014

केवल सीमित वितरण के लिए

बस यही आखिरी अशआर हैं जो मैंने लिखे

खुशीद अनवर शायराना तबीयत के आदमी थे। उम्र बहुत कम थी तभी उनके वालिद नहीं रहे, लेकिन लगता है उनकी शायरी हमेशा खुशीद के साथ रही। अपने बहुत ही संजीदा पलों में खुशीद अपने वालिद की नज़्म पढ़ते थे। हम सब गहन घाटियों से आती गंभीर आवाज़ में शायरी का जादू महसूस करते।

‘बड़े एहतियात से
नशतर लगाए जाते हैं
मगर लहू है कि
लम्हा ब लम्हा रिसता है’

अपने लम्बे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में खुशीद के पास इत्मीनान के पल बहुत कम थे लेकिन लगता है उनकी फुरसत और उनका चिंतन शायरी के अवकाशों में पलता था। चाहे वे कार्यशाला की गहन चर्चा के क्षण हों या कोई जनसभा या फिर दोस्तों-यारों की कोई अन्तरंग महफ़िल उनकी बातें शायरी के बेलबूटों से कढ़ी होती थीं। तुलसी से लेकर ग़ालिब, कबीर से लेकर फ़ैज़, खुसरो से लेकर अली सरदार जाफरी, वड्सवर्थ से लेकर पाब्लो नेरूदा और महमूद दरवेश से लेकर पाश तक वे अपनी बातों की झालरें बाँधते चलते। सटीक और मौजू शायरी से अपनी बातों पर मेहराबें बांधना उनसे सीखा जा सकता था। खुशीद साहित्य के गंभीर विद्यार्थी थे। शायरी से महफ़िल लूटना उनका तौर नहीं था बल्कि वे अर्थपूर्ण शायरी के अर्थ टटोलते रहते थे। कई बार किसी एक शेर के नुक्ते को समझते-समझाते वे पूरी शाम गुज़ार देते। जे.एन.यू. के ज़माने से ही उनका यह साहित्य प्रेम अपनी जड़ें जमाता गया।

लेकिन समस्या वही थी खुशीद लगातार एक सफ़र में थे। यह सफ़र कार्यशालाओं का था, मीटिंगों का था, एक सेकुलर महाज़ खड़ा करने की कोशिशों का था, कट्टरपंथ और हिंसा से टकराने के लिये वे ‘साझी विरासत’ की

अवधारणा विकसित कर रहे थे। इस सफ़र में ठहर कर कुछ गढ़ लेने की फुरसत कम थी। लेकिन धीमे-धीमे वह वक्रत आ ही गया जब उनके भीतर के शायर ने, लेखक ने मसरुफ़ियत की बंदिशें तोड़ दीं। जब उन्होंने फिलिस्तीनी शायर अल-करमी की नज़्म का अनुवाद हमें सुनाया हम रोमांचित हो गये। फिर तो जैसे कोई बल खाती हुई पहाड़ी नदी रफ़्तार से बहती है। गायत्री मंत्र के उर्दू अनुवाद ने तो जैसे हम सबों को झुमा दिया। उनकी ज़िन्दगी के आखिरी दो साल जैसे रचनात्मकता की बाढ़ लेकर आये थे। माया एंजेलो, पाब्लो नेरूदा, महमूद दरवेश, निसार कब्बानी जैसे कई शायर उनकी कलम की मार्फ़त फिर से जनम पाने लगे और खुद खुर्शीद अनवर भी जनमे बहुत इन्तज़ार के बाद उस रूप में जैसे हम सबको इन्तज़ार था। अनुवाद में वे पुनर्रचना कर रहे थे। उनके अनुवाद जैसे कविताओं को उर्दू के जिस्म में नये सिरे से ढाल रहे थे और उनकी अपनी शायरी जैसे उन्हें खुद ही पुनर्रचित कर रही थी। लेख, अनुवाद, शायरी, लघु कथाएँ, डायरियां और संस्मरण, खुर्शीद अपने को कई तरह से कह रहे थे।

साहित्य से उनका लगाव इतना गहरा था कि आप उनकी रचनाएं पढ़ते हैं तो जैसे खुर्शीद ही सामने आकर खड़े हो जाते हैं। अपने जाने के तीन दिन पहले उन्होंने जो नज़्म लिखी थी वह उनकी क़ैफ़ियत बयान करती है—

कोई इलज़ाम उठाओ कोई साज़िश तो बुनो
 कोई अफ़साना सुनाओ ज़रा कुछ तो बोलो
 कौन मिस्मार हुआ उस की कहानी कह दो
 सर उठाओ कि ज़माने को भी कुछ हासिल हो
 हम सरे-ए-दार खुद आ बैठे हैं इलज़ाम गढ़ो
 कुछ ज़बां खोलो ज़रा एक क़दम आगे बढ़ो
 तेग को धार दो खंजर को रवानी दो ज़रा
 वरना ख़ामोशी के असबाब बताओ तो ज़रा

अपने उन्हीं आखिरी दिनों में उन्होंने कॉनर जे की कविता 'डेथ बेड ऑफ़ ए डिक्टेटर' का अनुवाद किया। यह कविता भी उनकी जद्दोज़हद व बेचैनी का अविकल बयान है।

इस संग्रह 'हम वापस आएंगे' का नाम बहुत प्रतीकात्मक है। खुर्शीद अपनी रचनाओं और पूरे दक्षिण एशिया में फैले अपने काम के रूप में वापस आ रहे हैं। इस संग्रह के चार खंड हैं। पहला खण्ड 'खून फिर कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है' उनकी स्वरचित कविताओं का है। दूसरे खण्ड 'दर्द एक इश्क़ है' में उनकी अनूदित या पुनर्रचित कविताएं हैं। तीसरे खण्ड 'रौशनी का शहर' में

उनकी लघुकथाएं और डायरियां हैं। चौथा खण्ड 'यादों का कारवाँ' में उनके अपनी पुश्तैनी गाँव के किस्से हैं, जिसमें हास्य है, व्यंग्य है, करुणा है और साथ ही अपने समाज की भीतरी तहों की पड़ताल भी।

इन रचनाओं को कालक्रम के हिसाब से नहीं बल्कि रचना के मिजाज के हिसाब से व्यवस्थित करने की कोशिश की गई है। जिन कविताओं की लिखने की तारीख हमें पता है वह कविताओं के साथ दी जा रही हैं। हो सकता है कुछ और रचनाएँ हों जिन तक हम पहुँच नहीं पाये। अगर ऐसी रचनाएँ हमें मिलीं तो उन्हें आगे फिर प्रकाशित करने की कोशिश करेंगे। खुशीद ज्यादातर 'यूनीकोड' में खुद ही टाइप करते थे। जो रचनाएँ उनके रहते हुए छप गई हैं उनकी तो प्रूफ रीडिंग वे खुद करते थे। लेकिन जो ऐसे ही कम्प्यूटर पर या फाइलों में पड़ी थी उनकी टाइपिंग में हो सकता है कोई गलती रह गई हो। ऐसी गलतियों की जिम्मेदारी हमारी है।

खुशीद इस रूप में हमारे पास आ रहे हैं। पाब्लो नेरूदा की एक पुनर्चित कविता से हम यह संग्रह खुशीद की ओर से आपको भेंट करते हैं—

वह मेरे साथ नहीं रूह को मंजूर नहीं
हां मगर आखिरी ये दर्द हैं जो उसने दिये
उसके उल्फत के जवान दर्द की खातिर
बस यही आखिरी अशआर हैं जो मैंने लिखे

—आई.एस.डी. टीम

कल ये सूरज फिर नया हो जायेगा

शाम है गम के समन्दर में उतरने दो इसे
कल ये सूरज फिर नया हो जाएगा धीरज धरो!

सचमुच! ख़ुशीद मरते नहीं, ख़ुशीद मरा नहीं करते, बस चोला बदल लेते हैं। ख़ुशीद थे तो एक थे, अब नहीं हैं तो हजार-हजार ख़ुशीद हमारे भीतर उग रहे हैं, ज़िंदा हो रहे हैं। ज़माने की नजरें चुँधिया जा रही हैं। पाश ने कहा भी है, 'बहुत ख़तरनाक होता है हमारे सपनों का मर जाना।' ख़ुशीद इस 'ख़तरनाक' से लड़ते रहे, लड़ते रहे। जूझते रहे योद्धा की तरह। सपने के मरने की कौन कहे, अनगिनत ख़्वाब बो गए हमारी आँखों में। ये ख़्वाब ख़ून के आँसुओं से नहाए हुए हैं। दरअसल ख़ुशीद का क़त्ल किया गया है। सूरज के जितने टुकड़े करो, उतने-उतने सूरज खिल उठते हैं हमारे दरमियाँ।

कड़क आवाज़, चश्मे के पीछे से झाँकती चमकीली-सपनीली विश्वास से भरी आँखें, काली-सफ़ेद मूँछें, खिचड़ी बाल, दरमियाना क्रद, योजनाओं-संकल्पों से लबरेज, रौशन ज़ेहन, दुनिया को बदलने की ज़िद से भरा मन, इस्लामिक कट्टरपंथ या हिन्दुत्व की जड़ता की आँखों में आँखें डालकर बोलता-बतियाता संवाद, समझौतों से कोई समझौता नहीं, हारने को पलभर भी तैयार नहीं, उचटी नींद, काली रातों में भी जागता सवेरा, क्रलम का कुदाल जैसा इस्तेमाल, अपने आप में एक कारवाँ, खनकती हँसी, जुगनुओं से आँसू, असहमति में उठा साथ, अदब का संजीदा एहतराम, किसी से कोई शिकायत नहीं, सबको समेट लेने की सागर-मुद्रा, बच्चों सी चिहुँक, सड़क से संसद के दरवाज़ों तक एक विनम्र प्रतिरोध, उम्मीदों के बीच आवाजाही, नाउम्मीदी से गहरी रंजिश, हमारी साज़ी विरासत का झूलता-थरथराता पुल, संस्कृति का समन्वय, हिन्दुस्तानी ज़बान की नुमाइंदगी, भाषा और धर्म के बीच इन्सानियत के मर्म को पर्याप्त

स्पेस देने को आमादा, गुफ्तगू करने का नर्म सा लेकिन दृढ़ लबोलहजा, पढ़ना, पढ़ना और पढ़ते चले जाना, लिखना, लिखना और लिखते चले जाना, साहित्य का खामोश सिपाही, दिखना नहीं एक्टिविस्ट होना, पहर-पहर की साज-सँभाल, दोपहर के सूरज से दोस्ती, अँधियारी रातों में चाँद सा उजास, ये कुछ थोड़ी सी रंग-रेखाएँ हैं जिनसे ख़ुशीद की शख़्सियत का एक हल्का सा अंदाज़ मिलता है।

जब ख़ुशीद अनवर गायत्री मंत्र का लगभग सम्मोहित कर देता सा अनुवाद करते हैं, तो स्तब्ध हो जाना पड़ता है। सुखद आश्चर्य से भर देती है उनकी अभिव्यक्ति। साम्प्रदायिक ताकतों के खिलाफ़ जैसे जंग का ऐलान कर देता है कोई योद्धा—

रस्ता दिखा और इल्म दे मेरे ख़ुदा मेरे ख़ुदा।

‘समरथ’ के सम्पादकीय हों या ‘जनसत्ता’ के सम्पादकीय पृष्ठ पर लिखे गए उनके मुख्य आलेख। सहज ही कल्पना की जा सकती है कि जिंदगी के तमाम मोर्चों पर लड़ता आदमी कैसा लिखेगा और कैसा दिखेगा। ख़ुशीद बंद कमरों के लेखक नहीं हैं, वह एक सक्रिय एक्टिविस्ट लेखक हैं। वह बड़ी बात नहीं करते, वरन् उसे अपने रचना कर्म में जीकर दिखाते हैं, उनका गद्य प्रायः ‘डाइरेक्ट एक्शन’ में आ जाता है। वह सन्नाटा तोड़ने के लिए पूरे फेफड़े से चीखते हैं, वसु की याद आती है, वह कहता है—

बेसुरे से इस समय में

चलो अपना राग गा दें

एक प्रतिनिधि चीख होकर

कान के परदे उड़ा दें।

उनका जाना भी एक प्रतिनिधि चीख जैसा ही लग रहा है। उनका खून जब सड़क पर बिखरा तो कोलतार की कालिमा भी धुल गयी थी। वह खून मामूली आदमी का ग़ैरमामूली खून था। वह ख़ुशीद का लहू था। वह बेसुरे समय को सुरीला बनाने पर तुले थे, जिंदगी जहाँ बेसुरी दीखने लगी उन्होंने जिंदगी को ही ‘जय राम जी!’ कह दिया। ख़ुशीद जब लघुकथाएँ लिखते हैं तो जैसे मंटो की रूह ही उनमें करवटें बदलने लगती। वह अनुवाद करते हैं और मौलिक हो उठते हैं। वह मूल रचनाओं के साथ जब मंज़रे आम पर आते हैं और छते हैं तो अपने समय और समाज के मूल में ही पैठ जाते हैं, आशय के गहरे समंदर खँगालते हैं। कॉनर जे की कविता का अनुवाद करते, जैसे वह अपनी ही कैफ़ियत बयान करते हैं, आने वाले हादसे का स्पष्ट संकेत देते हैं -

खून फिर कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है / 7

रोशनी चीरेगी बादल को तो चिल्लाएगा वह
 जो ज़हर उगला था खुद उनको ही झुठलाएगा वह
 खुद को बतलाएगा उसने न किया कोई गुनाह
 जो हुआ उसमें वह शामिल ही नहीं था किसी जा
 पर जो यह वक्रत है ताकत का समन्दर ठहरा
 उसकी यादों को झिंझोड़ेगा कि तू क्रांतिल है।

यह कविता एक निर्दोष, निरपराध और मासूम क्लम का शाहकार है।
 खुर्शीद ने इस अनुवाद में जैसे आत्मा का लहू ही मिला दिया है। यह लहू की ही
 स्याही है जो उनके जाने के बाद और भी चमक उठी है।

बिना लाउड हुए जिस शाइस्तगी के साथ वह स्त्री सरोकारों को उठाते हैं
 कि बस ऐसा लगता है जैसे अपने भीतर निर्भया या दामिनी की छटपटाहट को
 उन्होंने सहेज लिया है। शब्दों में आग भर दी है, पर यह आग रूई के नर्म फाहे
 ज़ख्मों पर रख रही है।

पाब्लो नेरूदा के रचना संसार में दाखिल होते जैसे उनकी क्लम की
 जुम्बिश में ही यह महान रचनाकार किसी सपने की तरह तामीर होने लगता है -

वह मेरे साथ नहीं रूह को मंजूर नहीं
 हाँ मगर आखिरी यह दर्द है जो उसने दिये
 उसकी उल्फत के जवान दर्द की खातिर
 बस यही आखिरी अशआर हैं जो मैंने लिखे।

लगता है जैसे इन्हीं 'आखिरी अशआर' से खुर्शीद का कोई नया सफ़र
 शुरू हो रहा है। इन अनूदित और मौलिक रचनाओं के प्रकाशन से वह नए सिरे से
 जिंदा हो रहे हैं। इन कविताओं में उनकी नर्म-नर्म साँसें पिन्हाँ हैं। कृष्णा सोबती
 कहती हैं, 'लेखक की एक जिंदगी उसकी मौत के बाद शुरू होती है।'

आइए! खुर्शीद अनवर के इस तरह से जिंदा होने को पूरी शिद्दत से
 महूसस करें, उनके न होकर भी होने की आहट सुनें, 'सेलिब्रेट' करें उनकी ग़ैर-
 मौजूद मौजूदगी को।

—यश मालवीय

खून फिर कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है

खून फिर कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है

(मलाला के नाम)

खून फिर कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है
खून टपका है हरफ़ बन के हर एक कोने में
रौशनी बन के चमकता है हर एक सीने में
टैंक, बन्दूक से डरता नहीं यह खून है वह
दस्त-ए-क्रातिल को मिटा सकता है यह खून है वह
तरख़्त और ताज हिला सकता है यह खून है वह
जुल्म का नाम मिटा सकता है यह खून है वह
खून फिर कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है
आओ इबलीस के फ़रज़न्दो अगर हिम्मत हो
देखो इस खूँ की ज़िला तुम में अगर ताकत हो
इल्म के दुश्मनों, ज़ल्लादों, ज़मीं के धब्बे
वार करते हो ज़ेहानत पे हमेशा चुप के
यह मलाला का लहू एक समंदर होगा
जिसके तूफ़ान में तुम सब का सफ़ीना होगा
देखो वह मौत का पैगाम चला आता है
खून का दरिया तुम्हारी ही तरफ़ आता है

माँ और धरती माँ

मेरे सीने पे जो रखे हैं दो कुदरत के चिराग़
इनसे इंसान की रग-रग पे लहू बहता है
यह जो जीवन का सफर चलता है सदियों से यहाँ
इन्हीं से सींचा है मैंने इसे क्रतरा-क्रतरा
इनमें सांसों की रवानी का तबस्सुम है छिपा
इनमें धड़कन की सदाओं का तराना पिनहा
एक ज़रा रोने की आवाज़ जो इन तक पहुंची
खुद से शीरीनी उतर आई, कि ममता छलकी
तुमको सैराब यह करते रहे सदियों-सदियों
धरती पे चांद सजाते रहे सदियों-सदियों
धरती का सीना इन्हीं सीनों से आबाद हुआ
कहकहे गूंजे तो इन सीनों का ही साज़ रहा
धरती का सीना इन्हीं सीनों का मुहताज रहा
गुल की बू, रंगे चमन इनसे ही शादाब रहा
लेकिन इन सीनों का बाज़ार सजाया तुमने
इनको रूस्वा किया, सूली पे चढ़ाया तुमने
दूध के क्रतरे लहू बन के टपकते देखे
वो जो नन्हा सा, फरिश्ता सा चिमटता था यहाँ
फिर से चिमटा तो अजब क्रहर किया
उसकी रग-रग में मेरा खून जो दौड़ा था कभी
उसकी आंखों में उतर आया था उस लमहा वही
दांत, नाखून जो निकल आये थे इस वहशी के
नोचते पाये गए कुदरत के चिराग़ों की रंगें
गोशत के लुथड़े की मानिंद बने अब यह चिराग
वहशी लेते रहे उस गोशत के टुकड़े से हिसाब
सारा जो कर्ज़ था वह खूब उतारा, बच्चो !
धरती माँ का भी, चिराग़ों का, और शीरीनी का

यह धरती अब किसी की माँ नहीं है

(दामिनी के नाम)

यह देवी है तो पत्थर है यह इंसां है तो एक शय है
इसे पूजो अगर बुत है इसे नोचो जो यह शय है
यह बस एक जिस्म है और कुछ नहीं है
कोई बेटी किसी की माँ नहीं है
यह सब बातें पुरानी हो चुकी हैं
फ़साना हैं कहानी हो चुकी हैं
सजाओ सेज पर और फिर जला दो
बुझाओ प्यास फिर हस्ती मिटा दो

यह खेती है तुम्हारी और क्या है
निकालो हल इसे अब जोत डालो
उठो और इसको अब पैमाल कर दो
यह धरती अब किसी की माँ नहीं है
यह औरत है कि इसमें जां नहीं है
यह बस सेजों की शय है क्यों झिझकना
यह औरत है तो कैसी शर्म करना
यह मरियम है तो क्या औरत ही तो है
यह सीता है तो क्या औरत ही तो है
इसी का नाम ही तो दामिनी है
बढ़ो आगे बढ़ो बस जिस्म है यह

मौत के सौदागर

आयतें गार्क हुई खून का दरिया जो बहा
टैंक रॉकेट कि सदा बन गयी जो कल थी अज्जां
सारे औराक़-ए-कुरआं चीखते चिल्लाते रहे
और तुम मौत का परचम यूँ ही लहराते रहे
जो हदीसों थी उन्हें अपनी ज़बां देते रहे
और

जिहालत को तुम इस्लाम बताते ही रहे
कोई हिंदू कोई सिख कोई ईसाई निकला
तेरी बन्दूक के साये से कोई बच न सका
कोई शीया, कोई अहमदिया कोई बोहरा हो
मौत का जाम पिए और सर पे तेरे सेहरा हो
कौन है तेरा रसूल कौन है इस्लाम तेरा
कौन मज़हब है तेरा कौन सा ईमान तेरा
तुझ को मालूम नहीं क्या है रवायत तेरी
तुझ को मालूम नहीं क्या है इबादत तेरी
तू हमा-उस्त¹ के नारे से तो वाक्रिफ ही नहीं
हमा-अज़-उस्त² समझना तेरी किस्मत में नहीं
इन्ही अलफ़ाज़ ने मज़हब को ज़िया बख़्शी थी
इसी तारीख़ ने दुनिया को मोहब्बत दी थी
हाय तूने किये वह जुल्म कि नफ़रत फैली
तेरी वहशत से ज़माने में क्रयामत फैली
तेरे जैसे ही हैं मौजूद हर एक मज़हब में
तू है और वह हैं, ज़माना है तुम्हारी ज़द में

1. हमा-उस्त : अद्वैत; 2. हमा-अज़-उस्त : द्वैत

साथ चलो अब रंजिश कैसी

(उर्दू और हिंदी का रिश्ता)

छोड़ो फर्जी झगड़े हमदम क्यों रंजिश की बात करो
रात गयी और बात गयी अब लुत्फ-ओ-करम की बात करो
पैमाना लबरेज़ करो और सारी तलखी पी जाओ
आओ ज़रा पहलू में दम लो, कन्धा लो और सो जाओ
आँख खुले तो सैर को निकलें रंग तलाशें खुशबू ढूँढ़ें
दुनिया को बाँहों में ले लें और खुद में ही खुद को ढूँढ़ें
इश्क़ का शौला हुस्न की शबनम कैसा अनोखा है यह संगम
धड़कन दिल की नाचे छमछम, राग सुनाएं साँसों मद्धम
इन्द्रधनुष धरती को रिझाये, धरती अम्बर देख लजाये
सदियों पुराना इश्क़ है लेकिन आँख मिचौली तक रह जाये
आओ हमदम, उम्र बहुत कम, डूब के देखें दुनिया के रंग
साथ चलो, हमराज़ बनो फिर देखो मैं तुम, और तुम-हम

इन्तेज़ार

ज़ख्म खिलेंगे धीरे-धीरे
होंठ खुलेंगे धीरे-धीरे
सुबह उगेगी धीरे-धीरे
रात ढलेगी धीरे-धीरे
ऋतु बदलेगी धीरे-धीरे
जुल्म मरेगा धीरे-धीरे
खून जमेगा धीरे-धीरे
हाथ उठेंगे धीरे-धीरे
शोले जगेंगे धीरे-धीरे
मेंह गिरेगा धीरे-धीरे
गम भी धुलेंगे धीरे-धीरे

शहरनामा

हर रोज़ सियासी शहजादे
महलों के ख़्वाब सजाते हैं
और सड़कों और चौराहों पर
इनकी दुकान लगाते हैं
नारों में छत, रोटी, कपड़े
परचम बनकर लहराते हैं
औरत की हिफ़ाज़त को लेकर
अख़बारों में और टीवी पर
लंबे भाषण, लंबे वादे
करने को कतार लगाते हैं
और ठीक उसी दौरान यहां
किसी बस्ती में, किसी कोठी में
मजबूर जवानी लुटकर के
खामोशी से सो जाती है
यहां वहशी की बदकार नज़र
सोने के भाव में बिकती है
यहां दर्द हर इक चौराहे पर
सूली पर चढ़ाया जाता है
यहां दौड़ती-भागती कारों में
लैलाएं नोची जाती हैं
किसी हीर की दुनिया सड़कों पर
ऐलानिया मसली जाती है
चिंघाड़ती चीखती ये दुनिया
आहों को नहीं सुन पाती है
कोई दुखिया मां खामोशी से
आंसू पीकर रह जाती है
ये शहर ख़ामोशां है अपना
दिल्ली तो है पर दिल ही नहीं
तारीख़ है जिसकी अज़मत की
तहज़ीब मगर छू भी न गई

नाचएं भांड नचावयें गुनी जन

(इलाहाबादी अवधी माँ कहिन)

नाचएं भांड नचावयें गुनी जन
लीला देखए सबहूँ सज्जन
राम पियारे भजन लला के
चढ़ चढ़ गावैं नाचय तन मन
जुम्मन कबहूँ जुम्मा न पढ़िहें
मगर मसीद की खातिर लड़िहें
अऊर भांड किताबन वाले
गुनी जनन का सजदा करिहें
लिखिहें सेना तुरत बुलाओ
जंगल जंगल छापा मारव
बम्बू, डंडा, गोली लई के
आतंकी के सबय घुसाओ
ससुरे जंगल कब्जा कई के
सदियन से इयाहाँ पसरे
छाँट लेव पिछवाड़ा इनका
नाप लेव सब तिनका तिनका
देखव एक्को भाग न पावय
तबहीं हमरा जिया जुड़ावय
अऊर भांड है सांड से मोटके
रूपया पईसा जेब मा धर के
बईठे है गुजरात मा जम के
कह्यें नरेन्दर भाई अइहें
खूब तरक्की हमरी करिहें
इनके पीछे सब्बै चलिहें
अऊरो भांड हैं देखैं लुक के
कुदिहें मगर बस मऊका तक के

कितना बदल गया इंसान

तपिश सहारा की, दिल की आग से दो चार रहता हूँ
मगर शबनम के क्रतरोँ से मैं अपना जाम भरता हूँ
कभी बादे सबा के साथ मैं परवाज़ करता हूँ
कभी लू के थपेड़ों में भी उनके साथ चलता हूँ
मैं उस आदम का बेटा हूँ जिसे हर रंग भाते हैं
जवाँ नज़रें, हंसीं चेहरे मेरे ख्वाबों में आते हैं
मगर उस झोपड़ी में जिसमें फ़ाके रक्स करते हैं
वहीं पर जाके मेरी धडकनों के साज़ बजते हैं
वहीं पे खून की गर्दिश ने मुझमें तार छेड़े थे
मेरी साँसों ने नगमे उन अधेरोँ में बिखेरे थे
मगर मैं भूल बैठा अपना माज़ी और अपनी ज़ात
मुझे एहसास भी आया नहीं क्या थी मेरी औक्रात
मगर जब वक्रत मुझको सपनो से बाहर बुलाता है
वहीं पर आईना मेरा मुझे दुतकार देता है

—23 मई, 2013

गाना राग पुराना

सदियों का तपता सहारा, और रेत की फैली चादर
घनघोर बियाबां जीवन और सांस का चलना रुक कर
काँटों की वादी दिल, जां , चेहरा एक टूटा दर्पण
तारीख़ सियाही पोते, हर ठेस जगे रह रह कर
आकाश से बरसे सागर, आंसू मेरे ले-ले कर
मैं एक सख़्त जाँ पत्थर, टकराऊँ इस सागर से
हर एक क़दम पर पूछूँ खुद अपने आप से अक्सर
घनघोर बियाबां साथी, है सबका आज मुक़द्दर
काँटों की वादी कैसी, जब शहर बने है खंडहर
हर दर्पण चाक ग़रीबां, हर सांस का चलना दूभर
तुम किस्से खुद के लेकर किसको छलते हो अनवर
जब धरती डूबी खूँ में आकाश से पत्थर बरसे
जब हर कोने में खंजर मासूमों के सीने चीरे
जब हर सीना ज़ख़्मी है, हर दर्द है इक अफसाना
फिर अपने आप पे रोना ? और गाना राग पुराना

—1 जून, 2013

कोई चेहरा

कोई चेहरा रग-ए-जाँ में समाया था अभी कल तक
फ़लक़ तक रौशनी छनती थी उसके नूर की कल तक
हवाएं दोश पर उसके बसेरा करती थीं कल तक
दमक से उसकी सूरज मुस्कुरा उठता था सुबह को
कटोरा चाँद का रुख़सार धोता उसका रातों को
फ़लक़ आकर ज़मीं पर उसपे चादर तान देता था
सितारे नग़मार्गी होते थे लोरी गा सुलाते थे
गुलिस्तां ख़ुशबू से अपनी उसे महकाने आते थे
वह चेहरा वहम था मेरा कि सच था वह कोई पैकर
मगर अफ़सुर्दा जाँ करता है हर शब ख़्वाब में आकर

—2 जून, 2013

बाज़ार में मेरा अफसाना

वह दर्द जो मेरा अपना था
अनमोल ख़ज़ाना बरसों का
गिरवी रख कर कुछ अज़म लिए
माज़ी के झरोखों से चुनकर
बोसीदा लिबासों से ढक कर
बाज़ार के ज़ीनतख़ाने में
मैं उनको लेकर आया हूँ
इस झोली में जो कुछ भी है
उसकी भी तो क़ीमत होगी यहाँ
बाज़ार जहाँ सब बिकता है
बेपर्दा ज़मीर और बेशर्मा
आंसू के कफ़न, दिल की नर्मी
कुचले हुए जिस्मों की गर्मी
कामुक नज़रों की बेरहमी
यहाँ खून-ए-जिगर भी बिकता है
ज़ख़्मों का दहाना बिकता है
सपनों का ख़ज़ाना बिकता है
यहाँ सारा ज़माना बिकता है
वह देख वहाँ कोई माल बिका
किसी आँख का फिर अरमान बिका
शैतान के ख़ूनी पंजों में
कोई टूटा हुआ इंसान बिका
कोई चीख़ अभी गूँजी थी कहीं
इक हूक थी वह दोशीज़ा की
वह ख़ुद का जनाज़ा ले के चली
मंसूर की कीमत लगती है
और उसके अनल-हक़ की दुनिया
बाज़ार में सूली चढ़ती है

और इस बाज़ार की सज-धज में
मेरी दूकान पे कुछ नगमों
कुछ खून की रंगत है इनमें
सीने के जलन की बू इनमें
जो बह के पसीना सूख गया
उसकी भी महक शामिल इसमें
जो जिस्म से नाता तोड़ गयी
उन आहों की गूँज भी है इसमें
इन सब में छिपा है मेरा भी
वह दर्द जो मेरा अपना था
अनमोल खज़ाना बरसों का
गिरवी रख कर कुछ अज़म लिए
माज़ी के झरोखों से चुनकर
बोसीदा लिबासों से ढक कर
बाज़ार में मैं ले आया था
कैसा मंज़र ? सूनी है दुकां
कैसी झोली थी मेरी यहाँ
कोई क़ीमत न देने आया इन्हें
क्या इतनी मँहगी यह शय है
या बाज़ार में नर्मी है

—5 जून, 2013

हिटलरी सपने

फिर फिज़ा में रक्स में चिंगारियां होने को हैं
फिर रग-ए-गर्दन पे खंजर बरहना होने को है
एक क्रातिल रौंदने निकला है सारा कारवां
दोश पर अपने लिए ज़रदारों की दुनिया निहां
अनगिनत ख्वाबों की दुनिया भस्म कर और लूट कर
तख्त की जानिब चला गाँधी के घर से कूच कर
हिटलरी सपनों की ताबीरें इस अर्ज़-ए-पाक पर ?
खून का ताजिर न हाकिम होगा फिर इस ख्वाक पर

— 10 जून, 2013

भरम

तस्बीह के दानों से जुन्नार¹ सजा कर
हम शेख-ओ-बरहमन की नीयत देख रहे हैं
भगवान-खुदा हुस्न है दिल का, कि यह माला
हम इश्क की चिंगारी की लौ देख रहे हैं
यह भक्त यह ज़ाहिद जो बुत औ 'हरम के हैं
इंसान में क्या-क्या ? यह भरम देख रहे हैं

—17 जून, 2013

1. जनेऊ

दूकान

हम दैर-ओ-हरम लेकर बाज़ार में आये हैं
दूकान सजाई है भगवान बिठाए हैं
थाली भी है, टोपी भी, मुल्ले का अमामा भी
तावीज़ है, गन्डे हैं पूजा का है सामां भी
कुछ भाले भी लटके हैं, तलवार भी आवेज़ा
कृपाण भी बिकती है त्रिशूल का कहना क्या
ईमान की गठरी भी दूकान की रौनक है
हर सिम्त खुदा बैठे, बस जानो कि जन्नत है
हर रोज़ खुदाओं के शैदाई यहाँ आकर
झोली मेरी भरते हैं भगवान का सौदा कर
पर ऐसा एक हिस्सा है दूकान के अंदर ही
आवाज़ें निकलती हैं दहशत की और सिसकी की
उस हिस्से में में कुछ बच्चे जो बोल नहीं पाते
कहने को बहुत कुछ है पर कह ही नहीं पाते
इस बच्चे को तो देखो त्रिशूल से जब उतरा
मालूम नहीं कैसे दूकान में आ बैठा
और गूंगी सी लड़की वह बस हिचकियाँ लेती है
जिस दिन से लुटी तब से अल्लाह से डरती है
उस हौज़ को भी देखो जो दरमियां दूकां के
लबरेज लहू से है, निकला जो दिल-ओ-जाँ से
इस हौज़ के हर जानिब अल्लाह का पहरा है
भगवान निगहबां है शैतान भी सहमा है
यह खून तड़पता है फ़रियाद भी करता है
हर लम्हा गरजता, रुकता है न जमता है
लेकिन मेरी दूकां पे हर रोज़ जो आते हैं
ईमान के पक्के हैं सब रब में समाते हैं
बच्चों की सदा हो या हिचकी किसी लड़की की
वह खून का रोना हो या ग़म में दबी सिसकी

कुछ सुन नहीं यह पाते, भगवान के मतवाले
अल्लाह की, ईमां की और हक़ की कसम वाले
और दैर-ओ-हरम से है दूकान मेरी रौशन
घर में भी चिरागां है बाज़ार भी है रौशन
मालिक जो है दुनिया का, वह मेरा निगहबां है
बाज़ार है और मैं हूँ, भगवान है, अल्लाह है

— 19 जून, 2013

वक्रत

‘वक्रत मौजूदा और अतीत
दोनों मौजूद हैं भविष्य के समय में’¹
तो क्या मैं ईलिअट को जी रहा हूँ
शरीर रेंग रहा है आहिस्ता आहिस्ता
पी रहा है मेरे वर्तमान का पल छिन
लम्हे, आज, महीने, साल
समय इसके साथ परवाज़ कर रहा है
अगले वक्रत में
पर सांस तो चलती है अभी वर्तमान में
पिछली सांस गयी तो अतीत में
पर बनाने वर्तमान
कब ऐसा हुआ कि धड़कन तेरी हमसफ़र नहीं
तू हर लम्हा अतीत में क्यों दौड़ती है
क्या ज़मीन से आसमान नाराज़ हुआ
दोनों जुदा कब हुए
‘दोनों मौजूद हैं भविष्य के समय में’
पर अलग अलग क्यों
दिमाग ने सवाल किया बार बार
यह जो बेकाबू, हर क्षण, किसी की मर्जी की परवाह बिना
गोते लगता अतीत के समंदर की तह तक,
भविष्य के अनजाने स्वर्ग की पगडंडियों पर चल कर
अतीत के झरोखों से गुज़र कर
बे रोक टोक, बेलगाम
कोई जंजीर नहीं पहना सका इसे।
आज मेरा दामन थाम रहा है
मुझसे मांगता है अतीत के उलझे ऊन का सिरा
इस लम्हा सांस की आती जाती ताल का सुर
शरीर के दगा करते पल छिन की गिनती

मैंने कहा जाने दो सोचना क्या
सिरे जोड़ना क्यों, अनजान भर देखो
'तैतीस कोटि देवता मरिहें,
बड़ी काल की बाजी'²
वक्रत को बहने दो.
मगर अब सांस, धड़कन और शरीर के रिश्ते का सवाल है
'पतझड़ में फूल अपनी पंखुड़ी गिराते हैं, सूखे पत्ते झड़ते हैं'
पर नई रूत नए फूल नए पत्ते लाती है
सांस उखड़ती है, धड़कन दम तोडती है, शरीर इनका गुलाम है
पर नए मौसम मोहताज नहीं किसी कारवां के
मैं खौफ़ज़दा नहीं सांस के आने या गुज़र जाने से
धड़कन के वर्तमान से मुंह मोड़ने से
दौड़ने से इसके अतीत में
'तीन स्थितियां हैं जो बिलकुल एक सी दिखती हैं'³

—21 जून, 2013

1. और 3. टी एस एलियट 2. कबीर

भक्त बने भगवान लुटेरे

भक्त बने भगवान लुटेरे

दर्शन, यात्रा को लालायित, धन दौलत पर टूट पड़े.

माँ जी जय जयकार लगाते माँ बहनों पर टूट पड़े

मंदिर पर माथा टेका और माल उड़ा कर फूट पड़े

भक्त बने भगवान लुटेरे

भक्त की भक्ति दिखलाई, कंगन गहने लूट गए

गंगा मैया में थी जितनी सकल मोहब्बत लूट गए

बड़ी आस्था, निश्छल श्रद्धा, सब का परिचय दे देकर

मजबूरी इंसान की देखी, सारे बंधन टूट गए

भक्त बने भगवान लुटेरे

सबसे गहरी श्रद्धा वाले उड़न खटोला लेकर आये

गिन-गिन कर पहचान करायी किनको किनको ले कर जाये

कई हजार इलाके वाले श्रद्धावान नज़र आये

बाकी की चिंता क्या करना अपना ही बस बच जाये

हिंदू हृदय विजेता भी अब क्षेत्रवाद में धंस आये

हिंदू हो पर क्या करता मैं रिश्ता पहले निभ जाये

भक्त बने भगवान लुटेरे

सारी लीला देख के भी भगवान मौनव्रत लिए रहे

भक्त जनन को मौत से लड़ने देकर स्वयं आश्वस्त रहे

माफ करेंगे सब भक्तों को फिर जब निकट वह आयेंगे

गंगा में स्नान ध्यान से सारे पाप धुलायेंगे

—23 जून, 2013

मज़हब का कारोबार

मैंने तामीर की तेरी हजार सदियों तक...
परस्तिश करता रहा नग़मे तेरे गाता रहा
बुत सजाता रहा, काबे में घर बनाता रहा
फ़ाके करता रहा पर गुण तेरे गाता ही रहा
ऋर्ज़ पर ऋर्ज़ लिए भोग लगाता ही रहा
सजदे में झुक के शुक्र अल्लाह लगाता ही रहा
बलि देता रहा कुर्बानियां करता ही रहा
कहर तेरा जो हुआ और तेरा होता गया
जुल्म सहता गया पर नाम तेरा लेता गया
नाम पर तेरे मैं इंसान का दुश्मन भी बना
खून के दरिया बहाए कभी फांसी पे चढ़ा
नाम पर तेरे रवांडा में बिछाई लाशें
तुझको खुश रखने को बच्चों की उठाई लाशें
कभी काबुल कभी गुजरात में भी रक्स किया
तेरा बन्दा रहा हर राह में तुझको ही जिया
सोच अब तू कि मुझे तूने जहन्नुम ही दिया
उत्तराखंड तो बस् नाम है एक कोने का
सारी दुनिया में फ़साना है तेरे होने का
एक पत्ता नहीं हिलता तेरी मर्ज़ी के बिना
जीता मरता नहीं कोई तेरी मर्ज़ी के बिना
आगे मर्ज़ी हो तो लाशों का तू अंबार लगा
और उन लाशों में मज़हब का कारोबार चला

—24 जून, 2013

रक्स-ए-बेखुदी

यह रक्स-ए-बेखुदी है या मेरी वहशत की परछायीं
जहाँ देखूं खुद ही रक्सां, कुजा महफ़िल, कि तन्हाई
मगर मैं आईना हूँ अहद-ए-हाज़िर के फ़साने का
मेरी वहशत, तड़पती बेखुदी सब है ज़माने का

—9 जुलाई, 2013

अहल-ए-दिल हम हैं

दास्ताँ अपनी हर एक घर में नज़र आती है
तल्लिखयाँ लज़ज़त-ए-उल्फ़त में घुली जाती हैं
रात तारीक हुआ करती थी सुबहें तो नहीं
अब नए तर्ज़ से तारीख़ लिखी जाती है
इश्क बाज़ारों में बुतखानो में जा बैठा है
हरम और दैर की सीढ़ी को सजा रक्खा है
जाम-ओ-मीना पे उतरता नहीं महताब कोई
हुस्न को ढूँढने आता नहीं फ़रहाद कोई
कसमें वादे सिमट आये हैं महज़ हफ़ों में
कहाँ दिलदार नज़र आयेंगे कम ज़फ़ों में
कोई सिक्का कहीं खनका कहीं बाज़ार सजा
हुस्न और इश्क की दूकानों का भी राग छिड़ा
कई रांझे कई मजनू नज़र आते हैं यहाँ
खून-ए-दिल बेचने को बैठे हैं फ़रहाद यहाँ
यह नया दौर है इस दौर में तुम हो हम हैं
हमीं फ़रहाद हैं, मजनू भी हैं, रांझे हम हैं
इस नए दौर के आख़िर तो अहल-ए-दिल हम हैं

—14 जुलाई, 2013

अनल हक़

इंसानियत का खून सर चढ़ कर बोलता है
सच सूली चढ़ कर एलान करता है
तुमसे सोचा मलाला को खामोश कर दिया
वह बोली
'बन्दूक मुझे खत्म न कर सकी
खत्म हुआ तो डर'
ज़रा पलट कर देखो
तुमने सोचा बामियान का निशान मिटा दिया
कहीं आवाज़ गूँजी
'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।'
बाबा फ़रीद का मज़ार बारूद की नज़र किया
सूफ़ी बोल पड़ा
'जा मैं सबक इश्क़ दा पढ़ीयां, मस्जिद कोलों ज्योडा डरियां
पुछ पुछ ठाकुर द्वारे वड़यां जित्थे वजदे नाद हज़ार'

'वली का मज़ार रेज़ा रेज़ा किया
मज़ार बोली
'वली तू कहे आगे यह वचन, रक़ीबां के दिल में कटारी लगे'
लाओ मौत के सामान
रॉकेट और बमों के राग
लाओ नफ़रत के असलहे
लहू बोलेंगा
अनल हक़ अनल हक़

— 15 जुलाई, 2013

खयाल किसी अनजान का (बतर्ज़ इंशा जी)

चश्मा शीरीं, बल खाती नदी, शबनम की नमी
जूही की कली, फूलों सा दिल, चिंगारी फूल में सिमटी सी
धुन गूंजे बांसुरी की जैसे पर्वत नाचे धरती झूमे
शोला यौवन, बिजली धड़कन, साँसों की गर्मी दिल छू ले
तन से फूटे खुशबू ऐसे, मधुबन जैसे वहां आन बसे
नयनों के डोरे जाम लिए, ईमान मेरा डगमग डोले
आकाश में शहनाई बाजे जब अंगड़ाई यौवन ले ले
होंटों की तपिश नयनों की कशिश, साँसों में ज्यों अमृत घोले
छम छम धरती के घुंघरू बजें जब पांव ज़मी का मुंह छू ले
दरिया नाचे, पर्वत झूमे, नगमे जब उसके लब छू ले
शहजादी जो अम्बर से उतरी जगमग जगमग तारे चमके
महताब ने दामन खोल दिया हर ज़रा चांदनी में डूबे
उस शोख की भारी पलकों से मदिरा की बूँदें यूँ टपकें
कोई साक़ी जैसे जाम के संग मदमाता हुआ खुद ही बहके
सीने की लरजती सरगम में मल्हार का नगमा यूँ बरसे
आकाश से रिमझिम मेंह गिरे पर चिंगारी फिर भी दहके
इस हुस्न के सागर की तह में अफ़सानों का तूफ़ान सा है
इक इक क्रतरा दरिया इसका हर मौज तड़पता किस्सा है
पर हम इस हुस्न के शैदाई बस दूर किनारे बैठे हैं
कोई भिक्षा उसकी धड़कन की, मिलने की आस में बैठे हैं
पर सपना तो बस सपना है वह शहजादी परदेसी है
कभी आयी नहीं कहीं नज़र मुझे वह खुद में खोयी रहती है
कब नयन मंदिर और कोमल मन, मुझ पर जादू करने आया
जो धरती प्यास की मारी थी उस पर कब सावन बरसाया
वह शोख लचकती डाली सी, लहराए हर एक झोंके से
उस पर कितने तारे टूटे कितनो को उसने भरमाया
रुखसार दहकते अंगारे, और जुल्फ़ उमड़ती काली घटा
साँसों की गर्मी ठंडक सी, ज्यों धूप में में हो कोई छाया

नयनों से टपके मधुर मंदिर, एक जाम का प्याला हो जैसे
मैं ख़ाली पैमाना लेकर भिक्षा की गरज़ से हूँ आया
सोना पिघला कर जिस्म बना सूरज ने उसको नहलाया
और सुबह की बहती नर्म हवा ने उसके तन को महकाया
ऐ शहज़ादी सपनों की मेरी, तू हुस्न का दरिया है मेरा
ज़रा देख तेरे दरवाज़े पर एक कोई दस्तक देता है साया

—20 जुलाई, 2013

इंसान हूँ मैं

मैं वह मूसा हूँ कि दरिया के भी टुकड़े कर दूँ
राह को चांद सितारों से मुनव्वर कर दूँ
ग़ैब में आऊँ तो चंडी कभी काली बन जाऊँ
तीखी नज़रों से मैं परशुराम को ठंडा कर जाऊँ
सच का परचम जो उठाऊँ तो मैं हल्लाज बनूँ
नोक से सूली से आवाज़-ए-अनल हक सुन लूँ
ज़हर सुकरात का पी जाऊँ तो अमृत बन जाये
अहिवरण कर लूँ तो शिव की जटा खुद खुल जाये
और आशिक बनूँ तो मजनू को दरबान रखूँ
हुस्न और जलवों के मैं ख़्वाब परीशान करूँ
और इबादत में कहीं मेरा कोई सानी ही नहीं
दर्द-ए-इंसाँ की ख़लिश दिल से निकलती ही नहीं
काबा ताज़ीम करे ऐसा मुसलमान हूँ मैं
काशी की गलियों का काफ़िर हूँ कि इंसान हूँ मैं

—21 जुलाई, 2013

अमन का पौधा

लाल लाल लाल
बारूद का श्रृंगार
जंग से खुशियों के फूल सजेंगे
क्यारियों में फुहार पड़ेगी
माहौल में खुशबू फैलेगी
आओ जंग का जश्न है यह
जंग के नक्कारों की थाप पर
रक्स करेंगे मुनाफ़ाखोर और सियासतदान
जगह बनाओ अभी से चिताओं के लिए
जंगल काटो कि जिस्म लाखों जलेंगे
कब्रिस्तान खाली करवा दो कि शहीदों के मज़ार बनने हैं
पर पहरा देना
देखना कहीं कोई पुरानी जंगों का शहीद ज़बान न खोल दे
जंग-ए अज़ीम के करोड़ों शहीदों को खामोश रखना होगा
क्रैमलिन को तबाह करने की कोशिश में
सिपाहियों के गल गए हाथ पैर को ज़बान न मिल जाये
कहीं वियतनाम से कोई आवाज़ न उठ जाय
बांग्लादेश भी पड़ोसी है
देखना कहीं पांच लाख शहीद सीमा पर धरना न दे दें
रोकना होगा उन चीखों को भी
जो उन औरतों की गूँजी थी उसी मुल्क में
जिनके नतीजे में हज़ारों बच्चे अपने नाम से नावाकिफ़ पैदा हुए थे
और उसके बाद ख़ामोशी को अमन का लिबास पहना कर
सड़कों पर फ़तह का जश्न करेंगे
और फिर गूँजेगे नारे हर तरफ़
कोई नारा हरहर महादेव
तो कोई नारा अल्लाह-ओ-अकबर
और इन नारों के बीच अमन का पौधा पनपेगा

—10 अगस्त, 2013

शहर मक़तल बना

कोई पत्थर न उठे शीशे पे तो तय मानो
शहर का अज़म-ओ-ज़मीर मुर्दा सरे आम हुआ
किसी खंजर की चमक पर कोई बिजली न गिरी
मान लो क़त्ल की साज़िश का एहतेमाम हुआ
खून की चीख जो ख़ामोश हुई तो तय है
शहर मक़तल बना, खूँरैज़ी का पैगाम हुआ

—30 अगस्त, 2013

सब माया है

क्यों खोजो शीतल छाँव कहीं, क्यों बादल का सपना देखो
जब धूप कड़ी सर पर होवे क्यों आँचल, दामन की सोचो
हर पहचाना अनजान यहाँ, हर रिश्ता दुःख का सम्बंधी
सब मधुर वचन रस्मी बातें सब वादे आँख की बेशर्मी
जब मैं खुद ही स्वांग रचाता हूँ तो दूजों की क्या बात करूँ
कभी खुद को छलूँ कभी जग को छलूँ फिर जग पर ही आरोप धरूँ
निर्मोही जगत, निर्मोही मैं, सब संगी साथी निर्मोही
सब प्रीत की गाथा निर्मोही, हर दुःख का मरहम निर्मोही
सब पाप पुण्य और मर्यादा, छल कपट के राग की सरगम हैं
सब धरम करम उपदेश यहाँ एक जाल बिछाये बंधन है
'इंशा जी' कहें 'सब माया है', हम कहें झूट का साया है
क्यों रोना रोयें बिपदा का जब सब कुछ स्वयं बनाया है

—17 अक्टूबर, 2013

मैं उसका गुनाहगार हूँ

मैं चला तुम्हारे साथ सारी ज़िंदगी अब मैं अब कहाँ हूँ ?
इश्क में डूबा हूँ या साज़िश का हिस्सेदार हूँ
मैं सियासतदां हूँ या मजनों का पैरोकार हूँ
जुल्फ़ के साये में राहत ढूँढता हूँ धूप से
या उसी की आड़ में फ़ितना तो मैं तैयार हूँ
क्या फ़िज़ा है कि रक़ीब-ओ-यार तो हैं हमसफ़र
बेवक़फ़न मजनों है मैं उसका गुनाहगार हूँ

रात गहरी थी गहरी ही रही

वक्रत ये कैसा समां लाया है
हर तरफ बस अंधेरा छाया है
कोई उम्मीद नहीं रोशन है
कहीं सिसकी से रोता बचपन है
लफ़्त का मानी नहीं मिलता है
आंख में पानी नहीं मिलता है
वहशतों से हवास गुम से हैं
जो भी अरमान बचे, तुम से हैं
रात गहरी थी, गहरी ही रही
खून की एक नदी शहर में बही
सुबह सूरज जो आया काला था
लाश के हाथ एक निवाला था
लाश गिरने का सबब कोई नहीं
बात कहने का अदब कोई नहीं
शहर में है बचा अब कोई नहीं
अब तो तुम अब्र को पुकार ही लो
अब तो इस सब्र से उबार ही लो
अब तो कह दो कि बस बहुत है हुआ
अब तो सोचो सुकून की भी दुआ
अब तो पढ़ दो कोई मंतर ऐसा
जिससे कुछ बारिशें निकल ही पड़ें
जिससे कुछ ख्वाहिशें मचल ही पड़ें
जिससे रातों को अब तो नींद आए
जिससे सांसें भी ज़रा चैन पाएँ
जिससे आंखों में आंसू ज़िंदा हों
जिससे शैतान अब शर्मिंदा हों
मां को देखें तो बेटा याद आए
बेटी और बाप खुल के मुस्काएँ

कोई महबूबा अपनी जुल्फों को
कांधे पर रांझना के लहराए
चलो चल के बनाएं दुनिया वो
जिसको सपनों में कभी देखा था
जिसको अपनों के संग चाहा था
और दुनिया ये सारी अपनी है
तो फिर सपने हों, दुनिया भर के लिए
और सपने हों हर इक घर के लिए
वक़्त कैसा भी आए साथ रहें
हाथ में हाथ और हाथ रहें
फिर भी जब आंख खोलता हूँ मैं
खुद को कितना उदास पाया है
वक़्त ये कैसा समां लाया है
हर तरफ बस अंधेरा छाया है

अगर मंसूर है

यक्रीनन उसने कितनी मसलहत में खुद को ढाला है
कि उसकी ज़िंदगी की राह में जो है उजाला है
फकत अज़मत के नग़मे पलते हैं उसकी सियासत में
न कांटे हैं न दुश्मन हैं यही जौहर निकाला है
जो संग-ओ-ख़ार से पाकीज़ा है मक्कार निकलेगा
अगर मंसूर है तो जुल्म का तेवर भी देखेगा

—4 नवंबर, 2013

सर-ए-दार

कोई इलजाम उठाओ कोई साजिश तो बुनो
कोई अफसाना सुनाओ ज़रा कुछ तो बोलो
कौन मिस्मार हुआ उस की कहानी कह दो
सर उठाओ कि ज़माने को भी कुछ हासिल हो
हम सर-ए-दार खुद आ बैठे हैं इलजाम गढ़ो
कुछ ज़बां खोलो ज़रा एक क़दम आगे बढ़ो
तेग को धार दो खंजर को रवानी दो ज़रा
वरना ख़ामोशी के असबाब बताओ तो ज़रा

— 15 दिसंबर, 2013

दरुद ँक इशुक है

मेरे ख़ुदा मेरे ख़ुदा

बख़्शा मुझे तूने वजूद, मेरे ख़ुदा मेरे ख़ुदा
हर दर्द की तू है दवा, मेरे ख़ुदा मेरे ख़ुदा
रहमत की बारिश भी है तू, ख़ुशियाँ भी तेरे नाम से
...तू रोशनी, तू ज़िन्दगी, दानिशकदा मेरे ख़ुदा
है तेरे आब-ओ-ताब से बख़्शाश गुनाहों को मेरे
रस्ता दिखा और इल्म दे मेरे ख़ुदा मेरे ख़ुदा

(गायत्री मंत्र—‘ॐ भूर्भुवःस्वः तत् सवितुर्वरेण्यं ।
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।।’ का भावानुवाद)

तानाशाह की मौत का बिस्तर

रौशनी चीरेगी बादल को तो चिल्लाएगा वह
जो ज़हर उगला था ख़ुद उनको ही झुठलाएगा वह
ख़ुद को बतलायेगा उसने न किया कोई गुनाह
जो हुआ उसमें वह शामिल ही नहीं था किसी जा
पर जो यह वक्त है ताक़त का समंदर ठहरा
उसकी यादों को झिंझोड़ेगा कि तू कातिल है
जो लगे घाव वह मिटने के नहीं गहरे हैं
और जो जुल्म है उसमें भी दबी हैं परतें
हवस और जुल्म है बदकारी की बातें हैं सभी
सारे किस्सों का ज़खीरा है जो रुकता ही नहीं
रौशनी डूबी तो बदज़ात के कारिंदे सभी
फैली तारीकी में लेते हैं हर एक जगह पनाह
तानाशाह सहमा सा ख़ुद दूढ़ता है अपनी पनाह
ख़ुद पिघलता है उसी कफ़न में जो ओढ़ा उसने
तेज़ बढ़ती है तपिश जितना सिमटता है उसमें
पर जो सूरज का कहर बढ़ता है, रुकता कब है
सारे पंखों को जलाता है चमकता जब है
और नथुनों में तानाशाह के रफ़ता रफ़ता
उसके ही गोशत के जलने की महक भरता है
रूह में डूबे गुनाहों को खुरच देता है
आओ स्वागत है तुम्हारा यहाँ तुम आ पहुंचे
कि जहां सोचोगे ए काश न जिंदा होते
तानाशाह हाथ उठाता है ख़ुदा की जानिब
और ख़ुदा बोल चुका सुनने को कुछ है भी नहीं

कॉनर जे की कविता 'फ्रॉम द डेथबेड ऑफ ए डिक्टर'

कविता

आज भी याद है वह उम्र मुझे
जुस्तुजू में मेरी जब शायरी मुझ तक पहुँची
क्या खबर, कौन सी जानिब से नमूदार हुई
सर्द मौसम पे या दरयाओं के सीने पे सवार
कौन सा लम्हा था हालात थे क्या
कोई आहट कोई अल्फाज़ न आवाज़ सुनी
और खामोशी हो, ऐसा कोई एहसास नहीं
रहगुज़ारों से मुझे उसने तलब फ़रमाया
रात की बाँहों से, और दहके हुए शोलों से
लौटती राहों से और गुज़रे हुए सालों से
सामने उसके था बेचेहरा इक वजूद के साथ
उसने आहिस्ता से जब थाम लिया मेरा हाथ

फ़ाख़्ता हो गए अल्फाज़ थे जो मेरे पास
कोई चेहरा कोई पहचान न रहने पायी
इक सियाही ही थी जो आँखों पे आकर छाई
और फिर रूह पे तूफ़ान उठा कुछ ऐसा
एक परवाज़ भरी, पर मेरे आज्ञाद हुए
और मैं चल पड़ा बिखरी सी फ़िज़ा की जानिब
आग की शक्ति का जो राज़ था मुझ पर वह खुला
धुंधली सी पहली सतर मेरे वरक़ पर उतरी
जिसके मानी भी न थे
बेसबब, मानी-ओ-मतलब से परे पूरी तरह
अनछुए ज़ेहन से लबरेज़ भी थी पूरी तरह
नागहाँ, खुलने लगे मेरी नज़र के आगे
आसमानों के दरीचे भी ग्रहों के परदे
लहलहाने लगी इक सब्ज़ सी वादी हर सू
सायबानो ने किये चाक गरीबां ऐसे
गुल के बूटे भी समाये तो कहीं आग और तीर

टूटने को हुई पांवों में पडी हर जंजीर
शब का फैलाव तो क्या एक मुकम्मल सा जहाँ
मेरी हस्ती के मुक़ाबिल था ज़माना सारा

मेरी हस्ती जो अभी खाली थी ज़र्रा भी न थी
उसने पैमाने लिए तारों भारी वुसअत के
उसमे खुलने लगे अनजान जो थे वह ख़ाके
अनखुले राज़ का हमराज़ बना कर मुझको
हमसफ़र मेरे हुए सारे दमकते तारे
दिल चला साथ हवाओं के उफ़क़ पर सारे

पाँब्लो नेरूदा की कविता 'पोएट्री'

पाँब्लो नेरूदा के जन्मदिन 12 जुलाई के अवसर पर

आज की रात तराशूँगा दर्द के नगमे

आज की रात तराशूँगा दर्द के नगमे
...आसमां तारों की चादर में समाया सा है
और तारों में दमक भी है थरथराहट भी
गीत के सुर भी हवाओं में घुले जाते हैं
हाँ मुझे इश्क था उसको भी रहा हो शायद
ऐसी ही रात थी और ऐसा ही फैला आकाश
मेरी आगोश में सिमटी हुई बल खाई हुई
मेरे बोसों के समंदर में वह नहलाई हुई
आसमां दूर तलक अपना निगहबान सा था
उसने भी इश्क किया मेरा भी कुछ कम तो न था
कैसे उन झील सी आँखों से न उल्फत करता
आज की रात तराशूँगा दर्द के नगमे
कैसे मैं मान लूँ वह साथ नहीं है मेरे
कैसे एहसास करूँ उस से जुदा हो जाना
शब की फैली हुई खामोशी की आवाजों की
गूँज कुछ और भी बढ़ती है कि अब वह जो नहीं
नगमे यूँ रूह को सैराब किये जाते हैं
जैसे शबनम के नरम कतरे गिरें मैदां में
क्या हुआ जो मेरी उल्फत उसे रख पाई नहीं अपने पास
आज फिर तारों की बरसात है पर वह ही नहीं
दूर से, नगमे की आवाज़ लरज़ती है कहीं
यह कहानी है मेरी मैं भी क्या बेचैन नहीं
नज़रें बेचैन है बस एक नज़ारे के लिए
उसको एक बार यहीं पास बुलाने के लिए
दिल तड़पता है उसे दिल में बसाने के लिए
गो कि मालूम है वह अब नहीं आने के लिए
है वही रात दरख्तों पे वही चांदनी है
पर न हम वह हैं न उन रातों की परछाई है
तय तो है अब कोई चाहत कोई उल्फत न रही

फिर भी उस हुस्न से हृद दर्जा मोहब्बत तो रही
मेरी आवाज़ के तारों में तमन्नाओं का सुर आज भी है
दोश पर नरम हवाओं पे करे यह परवाज़
मेरी आवाज़ बने आज फिर तेरी आवाज़
मेरे बोसे थे कभी उसकी पुर असरार आवाज़
किसी शहनाई की मानिंद वह गाती आवाज़
वह निगाहें जो कभी मेरा वजूद भरती थीं
अब किसी और को जलवों में समा जायेंगी
उस से अब प्यार नहीं पर शायद
कोई चिंगारी अभी दिल में दबी हो शायद
इश्क लम्हों में गुज़रता है मगर याद का बोझ
भारी पत्थर है जो सीने से उतरता ही नहीं
इस जवां रात के जैसी ही थी वह भी रातें
मेरी आगोश थी और उसका लरज़ता सा जिस्म
वह मेरे साथ नहीं रूह को मंज़ूर नहीं
हाँ मगर आखिरी यह दर्द है जो उसने दिए
उसकी उल्फ़त के जवान दर्द की ख़ातिर
बस यही आखिरी अशआर हैं जो मैंने लिखे

पाँब्लो नेरूदा की कविता 'टूनाइट आई कैन राइट द सैंडेस्ट लाइन्स'

ढलती शामों की घड़ी का मेरा फैला आकाश

ढलती शामों की घड़ी का मेरा फैला आकाश
उसपे छाई हो ऐसे कोई बादल जैसे
तुम मेरी ज्ञात हो, मेरी हो ऐ नाजुक लब जाँ
और तेरी ज्ञात में शामिल मेरे ख्वाबों के जहां

रौशनी रूह की मेरे, तेरे कदमों में ढले
यूँ उतर जायें कि रंगत तेरे पांव सजें
मय की तल्लखी बने शीरीं तेरे लब जो छू ले
ऐ मेरे शाम के गीतों को सजाने वाली
तनहा ख्वाबों को यकीं है कि तू मेरी ही है

मैं हवाओं के सुरों में तुझे पा जाता हूँ
तू मेरी है मैं हवाओं से भी कहलाता हूँ
मेरी आँखों में उतर कर करे तू हश्र बपा
शब की ख़ुशबू यूँ उड़े जैसे मचलता झरना

मेरे संगीत के दामन में सजी है तू जाँ
और यह दामन है कि फैला हुआ अम्बर जैसा
तेरी नम आँखों के सागर का किनारा मेरी रूह
इन्ही नम आँखों से धरती मेरे ख्वाबों की शुरू

पाँब्लो नेरूदा की कविता 'इन माई स्काई एट टिवलाइट'

बहुत दूर न जा

बहुत दूर न जा, बहुत दूर न जा
एक भी दिन के लिए दूर न जा
मेरे अलफ़ाज़ मेरा साथ नहीं देते अभी
क्या कहूँ सोच नहीं पाता कहूँ तो क्या कहूँ
दिन का कटना बड़ा मुश्किल है कि लंबे हैं दिन
मुन्तज़िर बैटूंगा ख़ाली किसी स्टेशन पर
जबकि वह रेल रुकी होगी कहीं और कहीं

एक घंटे को भी तू दूर न जा
तुझको मालूम नहीं दर्द के मेरे क्रतरे
हर तरफ़ फैल के माहौल में घुल जायेंगे
जो धुंआ उठता है और ढूँढता है कोई पनाह
मेरी रग-रग में उतर ख़ून-ए-जिगर कर देगा

देख साया तेरा सागर पे न धूमिल होवे
और तेरी पलकें न बेमानी ख़ला में झपकें
एक लमहे को भी अय जान मेरी दूर न जा

क्योंकि यह लम्हा कहीं दूर न ले जाए तुझे
और मैं सारी ज़मीं छान लूँ और मिल न सकूँ
और सोचूँ कि क्या फिर अपना मिलन होगा कभी
या मेरी मौत का सामान बनेगी यह कमी

पॉब्लो नेरूदा की कविता 'डोन्ट गो फार ऑफ़'

लफ़्ज़

लफ़्ज़ वारिद हुआ
खून में दौड़ गया
परवरिश पाता रहा जिस्म की गहराइयों में
और परवाज़ भरी होंटों से और मुंह से निकल
दूर से दूर भी नज़दीक बहुत ही नज़दीक
लफ़्ज़ बरसा किये
पुरखों दर पुरखों भी और नस्लों की मीरास के साथ
और वह बस्तियां जो पहने थी पत्थर के लिबास
थक चुकी थीं जो खुद अपने ही बाशिंदों से दबी
क्योंकि जब दर्द ने सड़कों को छुआ और बढ़ा
लोग आते भी गए दूर कहीं जाते भी
बीज लफ़्ज़ों के दुबारा कहीं बोलने के लिए
पानी का रिश्ता ज़मीनों से बनाने के लिए
और यही वजह है मीरास हमारी है यह
वही झोंके हैं हवाओं के कि जोड़ें हमको
दफ़न इंसानों से रिश्तों से पिरोयें हमको
और वह सुबह नयी सुबह का पैग़ाम नया
जो कि बेताब है मंज़र पे कभी आने को
आज भी कांपती है सारी फ़िज़ा
गूँज से लफ़्ज़ की जो पहले पहल बोला गया
घोर अंधियारों में डर और किसी आह के साथ
लफ़्ज़ उभरा तो सही पर कहीं गर्जा न कोई
और फिर आहनी झंकार सी बहती ही रही
उसी एक लफ़्ज़ की
जो पहले पहल बोला गया
गो कि मुमकिन है कि एक लहर थी या इक कतरा
अब यह आलम है कि झरना है जो रुकता ही नहीं
वक्रत गुज़रा तो फिर इस लफ़्ज़ में मानी उभरे
कोई बच्चा था जो जीवन को सजाने आया

तमाम खल्क महज्ज जन्म थी और थी आवाज
इत्तेफ़ाक़, साफ़ और मज़बूती लिए
साथ इनकार लिए
और तबाही का, कभी मौत का पैग़ाम लिए
सारी ताक़त सिमट के घुल गयी क्रियाओं में
बिजलियाँ भर गयी रौनक़, जो मिले दो पहलू
ज़िन्दग़ानी का वजूद और उसके साथ की खुशबू
रौशनी फैल गयी और सजावट से सजी चांदी सी
उसके कोनों में हर्फ़ और जो अल्फ़ाज़ थे इंसानों के
और विरासत का था जो जाम वह छलका ऐसे
खून में फैल गया अपना बयाँ साथ लिए
यह वह लम्हा था कि ख़ामोशी का दामन फैला
सफ़र पूरा हुआ इंसान के लफ़्ज़ों में समा
मौत का ज़िक़्र ही क्या, इंसान का पूरा ही वजूद
भाषा विस्तार ले तो बालों में उगती है जुबां
होंट हिलते भी नहीं मुंह से निकलते हैं लफ़्ज़

घुल गया सारा वजूद लफ़्ज़ में इंसानों के
यक-ब-यक नज़रें ही बन जाती हैं लफ़्ज़
लफ़्ज़ों को लेता हूँ और नफ़्स में भर लेता हूँ
ऐसा लगता है कि यह लफ़्ज़ नहीं इंसान हैं
लफ़्ज़ों की लय में उतरता हूँ तो खो जाता हूँ
इनकी तरतीब मुझे डालती है हैरत में
बुदबुदाता हूँ कि जिंदा हूँ अभी
और हैरत में हूँ कुछ बोल नहीं पाता हूँ

और धीरे से क्रदम अपने बढ़ाता हूँ उधर
ख़ामोशी लफ़्ज़ों की छाई है जिधर
जाम उठाता हूँ मैं लफ़्ज़ों के लिए
लफ़्ज़ एक या कि दमकता शीशा
जिसमें मैं ढालता हूँ जाम अपना

जाम यह भाषा की ख़ालिस मय है
कोई बहता हुआ पानी जो ठहरता ही नहीं
लफ़्ज़ के जन्म की वजह है यह
जाम और पानी और ख़ालिस यह शराब
मेरे नगमों को बुलंदी सी अता करते हैं
क्रिया है लफ़्ज़ों की जां और ज़रिया वाहिन
ज़िंदगी बन के मेरे ख़ूं में उतर जाती है
ख़ुद को फैलाव का पैगाम दिया करता है
लफ़्ज़ शीशे को ज़िया देते हैं और ख़ून को ख़ून
और जीवन को भी यह जीवन ही अता करते हैं

पॉब्लो नेरूदा की कविता 'द वर्ड'

रिमम्बरेंस

तुम्हारे हाथ मेरी जुल्फों पे बेखौफ़ रवां
शहद की मक्खी की मानिंद बने छतों में
मेरे रुखसार की हर साख़्त पे मुस्काते हैं
कभी तो जिस्म पे मेरे मचलते जाते हैं
कभी दमक कभी सरगोशी से इज़हार के साथ
रहस्य का जाल मेरे तर्कों पे छा जाता है
बलात्कार का एहसास सा दिलाता है
जिस घड़ी खुद को और अपने बिखेरे जादू को
समेट लेते हो अपनी पहल पे मुझसे अलग
तुम्हारी बू ही फ़क़त रहती है सीनों के बीच
उस घड़ी, ठीक उसी वक़्त बिना शर्म-ओ-हया
तेरी मौजूदगी का जीता सा सारा एहसास
अपने अंदर मैं समां लेती हूँ रख लेती हूँ।

माया एंजेलो की कविता 'रिमम्बरेंस'

वह वापस चल दिए घर

वह वापस चल दिए घर
मेरे बारे अपनी बीवियों को
कहा मुझ जैसी औरत
न देखी इस से पहले
तब भी
वह वापस चल दिए घर

कहा मेरा जो घर है
चमकता आईना है
मेरे अल्फाज़ में भी
कोई तलखी नहीं है
मुअम्मा जैसी हूँ मैं
वह वापस चल दिए घर

ज़बां पर हर पुरुष के
मेरी तारीफ़ ही थी
मेरी मुस्कान की भी
जेहन की और नितम्ब की
गुज़ारी रात मुझ संग
कभी कुछ और रातें
मगर...

माया एंजेलो की कविता 'दे वेंट होम'

मर्द

उन जवानी के दिनों के लम्हात
मर्द जब सड़कों पे आवारागर्द होते थे
मर्द कुछ उम्र दराज़, और शराबी कुछ मर्द
नौजवां तेज़ और तरार से मर्द
तकती रहती थी उन्हें पर्दों से छिपकर अक्सर
देखो देखो तो इन्हें
मर्द रहते किसी सिम्त रवां हर लम्हा

उनको एहसास था होने का मेरे थी मैं जहाँ
पन्द्रह बरसों की कि होने को थी दोशीज़ा जवाँ
मेरी नज़रों में थी भूक वह छुप सकती कहाँ
वह ठहर जाते थे उस जा मेरी खिडकी थी जहाँ
एक जवाँ लड़की के उभरे हुए सीने की तरह
काँधे उनके भी उठे होते थे इस दर्जा वहाँ
और इन मर्दों के जिस्मो चढ़े कोट वहाँ
दूसरे मर्दों के छूते थे जो होते थे वहाँ

और फिर मर्द हथेली में यूँ भरते हैं तुम्हे
ऐसा एहसास दिलाते हैं जो छूते हैं तुम्हे
जैसे एक नस्ल फ़ना होगी अगर तुम टूटी
फिर ज़रा हलकी सी बढ़ती है उन हाथों की गिरफ़्त
ख़ुशनुमा होता है उस लम्हे की लज़ज़त का समां
और आगोश में भर लेता है ऐसे फ़ौरन
कि कोई रोक भी न पाए न हो ऐसी चुभन
रफ़ता-रफ़ता यह गिरफ़्त बढ़ती है सारे तन पर
दर्द आता है दबे पाँव रगों में चढ़ कर
डर के एहसास में लिपटी हुई मुस्कान के साथ
गुम हुई जाती हवाओं की हर रफ़तार के साथ
ज़ेहन फटता है रगें फटती है कुछ लम्हों को

कोई चिंगारी तड़पती है पर कुछ लम्हों को
और जो क्रतरे फिसलते हैं उनकी टांगों में
और पनाह लेते हैं जूते में ढके पाँवों में
यह वह क्रतरे है जो निकले हैं तुम्हारे तन से
और जा टपके हैं उन जूतों में और टांगों में
और जब धरती संभलती ज़रा देर के बाद
ज़ायेक़ा आता है वापस जो ज़बां पर इक बार
जिस्म तब तक तो बिखर चुकता है रेज़ा रेज़ा
बंद हो चुकते हैं जीवन में हैं जितने भी किवाड़
ढूँढ कर भी नहीं मिलता किसी चाभी का सुराग

तार-ओ-तारीक यूँ हो जाती है दुनिया पूरी
और फिर होती है बंद ज़ेहन पे खिड़की पूरी
उन्ही लहराते हुए पर्दों से कुछ दूर ज़रा
मर्द आवारा गुज़रते हैं वहां हर एक जा
ज़ेहन में याद लिए कदमों में रफ़्तार लिए
मर्द रहते किसी सिम्त रवां हर लम्हा
और मैं अब से इसी जगह से बस चुप रह कर
देखूंगी सारा नज़ारा पर जुबां बंद रख कर

माया एंजेलो की कविता 'मैन'

फिर से मैं उठती हूँ खुद अपनी बुलंदी बनकर

झूठ और मक्क की चादर में लिटा कर मुझको
गर्क कर दो मुझे इतिहास के पन्नों में अभी
रौंद कर क्रदमो तले धूल बना दो मुझको
जिस तरह धूल उठे मैं भी उठूँगी फिर से
तुम मेरे अज्म से बतलाओ कि डरते क्यों हो ?
इतने नाशाद हो क्यों इतने परेशां क्यों हो ?
क्योंकि हर एक कदम मेरा बताता है तुम्हे
जैसे मैं तेल का एक पूरा जखीरा ले कर
अपने कमरे को उजालों की जिला देती हूँ।
जिस तरह रोज़ चमकता सरो पर सूरज
जिस तरह चाँद निकलता शबों के ऊपर
जिस तरह पुख्ता इरादे हो मेरे दामन में
उस तरह फिर से उठूँगी मैं इसी दुनिया में

क्या यह ख्वाहिश है कि मैं टूट के टुकड़े होऊँ
और नज़रों मेरी झुक जायें और सर झुक जाये ?
मेरे रोने की सदा सुन के सहम के आखिर
शाने झुक जायें मेरे आंसू के क्रतरे की तरह

क्यों तुम्हे चोट पहुँचती है मेरे तेवर से
क्या कोई खौफ नहीं तुमको मेरे इस रुख से
क्योंकि यूँ हंसती हूँ मैं जैसे कि मेरे आँगन में
कोई सोने का जखीरा उतर आया हो मेरे दामन में

अपने लफ़्ज़ों से मुझे कितना ही जख्मी कर लो
अपनी नज़रों से मेरे जिस्म को छलनी कर दो
अपनी नफ़रत से मुझे कितना ही तुम क्रत्ल करो
मैं उभर आऊँगी कि हूँ ताज़ा हवा का झोंका

क्यों तुम्हें चुभता है चढ़ता हुआ मेरा यौवन
तुमको हैरान सा करता है क्या मेरा यौवन ?
क्यों कि मैं रक्स में खो जाती हूँ एहसास जो हो
बीच जांघों के मेरी जैसे कि हीरा चमके

पिछली तारीखों में जो शर्म थी उस से बढ़ कर
फिर से मैं उठती हूँ खुद अपनी बुलंदी बनकर
दर्द के माज़ी को उठ कर उसे ठोकर देकर
फिर से मैं उठती हूँ खुद अपनी बुलंदी बनकर

काला सागर हूँ तड़पती हूँ उमड़ती हूँ मैं
फ़ैल जाती हूँ मैं लहरों में मचलती हूँ मैं
खौफ़ और दर्द की रातों से परे जाकर मैं
फिर से मैं उठती हूँ खुद अपनी बुलंदी बनकर
सुब्ह का तेज़ और शफ़ाफ़ उजाला बनकर
फिर से मैं उठती हूँ खुद अपनी बुलंदी बनकर
अपने पुरखों से कमाई हुई मीरास लिए
और गुलामों की उम्मीदें लिए और ख़्वाब लिए
फिर से मैं उठती हूँ खुद अपनी बुलंदी बनकर

माया एंजेलो की कविता 'स्टिल आई राइज़'

रु-ब-रु

मौत से होती हूँ मैं रु-ब-रु कितनी ही बार
टूटती नब्जों में पड़ते हैं शिगाफ़ कितनी बार
जिस तरह सोते हुए बच्चे की बंधी मुट्टी से
ऊँगलियाँ खुलती हैं आहिस्ता गिरह से खुल कर
यादों में नक्श है जो मक़बरे और उनके साथ
गलते जिस्मों की मकोड़ों से जुड़ी बातें भी
सारी नाकाफ़ी मेरा अज़म हिलाने के लिए
और वर्षों की सभी सर्द शिकस्तों के निशाँ
मेरे चेहरे पे नुमायाँ हैं कि गहरे हैं दाग़
मेरी आँखों पे सदा बोझ बने रहते हैं
मौत से होती हूँ मैं रु-ब-रु कितनी ही बार
क्यों कि मैं जिंदगी से करती हूँ बेहद प्यार

माया एंजेलो की कविता 'दि लेसन'

मौत, खूँरज़ी और आफ़त के बिना

मौत, खूँरज़ी और आफ़त के बिना
जंग में फ़तह का इमकान तो मुमकिन ही नहीं
जंग के बाद जो मीरास में मिलता है हमें
दर्द के ग़ार और नफ़रत में ढले सब रिश्ते
जंग की आग से जो गबरू जवां बच आये
कूचे कूचे में निकलती परेडें उनकी
फिर सियासत के तरानों में जो सुर ढलते हैं
मर्सिया बन के जवां लाशों का वो चलते हैं
जंग सियासत की गेज़ा है किसी इज़्ज़त की नहीं
ख़ुदा और मुल्क की और कौम की इज़्ज़त की नहीं
जाने कितने जवां खुशचेहरा चढ़े जंग की भेंट
और फिर सिलसिला चल निकला कुछ ऐसे जैसे
एक के बाद कई जंग के परचम उठे
मुल्क और क़ौमी मोहब्बत के उठे तूफ़ाँ में
लाखों दम तोड़ गए, लाखों तबाही में जले
जंग लड़ने की हवस बोती है जो बीज कहीं
नफ़रत इंसान से इंसान की बढ़ती है वहीं
मुल्क के परचमों से प्यार दिखाने के लिए
कितने जांबाज़ जवां जवांमरगी से जा मिलते हैं
और फिर तमगे की सूरत कोई दिन तय करके
याद में सारे शहीदों की शहर, गांवों में
मुल्क से और शहीदों से मुहब्बत के एवज़
नौजवानों की परेडें ही हैं जो मिलती हैं

फ्रांसिस डुगन की कविता 'विदाउट डैथ, ब्लड शैड एंड सफरिंग'

मैं वह औरत हूँ

मैं वह औरत हूँ जिसे बर्दाश्त न कर पाओगे
मैं वह औरत हूँ जुदा जिस से न हो पाओगे
मैं वह औरत हूँ हिला दे जो दिमागों की रंगें
मैं वह औरत हूँ जो मजबूर मुहब्बत को करे
मैं वह औरत हूँ जो इस तरह तुम्हें तड़पा दे
अपना ही नाम तुम्हारे जेहन में भी आ न सके
तेरी माँ प्यार करे देखे मुझे तारों में
मैं वह औरत हूँ जो हंसी भर दे तेरे यारों में
मैं वह औरत हूँ कि जो शब भर तुम्हें मजबूर करे
बोलते रहने को हर लम्हा कभी जो कह दे
मैं वह औरत हूँ जो चाहे तो बदहवास हो तुम
मैं वह औरत हूँ जो दीवाना बना कर रख दे
मैं वह औरत हूँ कि जलवों से तुम्हे पिघला दे
मैं वह औरत हूँ जो हर काम तेरा बिसरा दे
सारा दिन जिस्म से तुम पीते रहो उसके जाम
किसी वहशी कि तरह जिस्म पे होकर कुर्बान
तुमको बेकाबू यूँ कर दे कि तड़प जाओ तुम
रूह को अपनी ही खुद ढूँढ भी न पाओ तुम
तुमको मजबूर करे मान लो तुम अपनी शिकस्त
और उदासी में डुबो दे रहे वह दूर अगर
मैं वह औरत हूँ जो मिल जाऊँ तो दीवाना बनो
मेरी रग रग में समा जाने का परवाना बनो
तुमको मजबूर करूँ बैठे रहो शब को यूँ ही
मेरे चेहरे को निहारो मैं जो ख्वाबों में रहूँ
मैं वह औरत हूँ कि नफ़रत भी करो प्यार भी तुम
मैं वह औरत हूँ जिसे भूल सको ? नामुमकिन

इविटा वेल्वेट की कविता 'आई एम दैट वुमेन'

आशिक्र

आशिक्र शराबनोशी करेंगे सुबह और शाम
एक सिलसिला कि जिसका नशा है ही नातमाम
दानिशवरी के पर्दों का मिटना है इस लम्हे का निज़ाम
सारी हया पिघल के मुहब्बत का घोले जाम
दिल, रूह, जिस्म, इल्म का कोई नहीं है काम
खुद गर्क होके इश्क में कर जाओ अपना नाम
फिर मंजिलों पे ठहरेंगे कि हैं इश्क के गुलाम

जलालुद्दीन रूमी की कविता 'आशिक्र'

आज़ादी

मुझको समझाओ कि आज़ादी का मफ़हूम है क्या
मेरी माँ मुझको मेरे फैसलों को इज़्ज़त दे ?
यही आज़ादी है क्या ?
कि मैं जो ख़्वाहिशें रखती हूँ उन्हें पूरा करूँ ?
और तबस्सुम से हूँ लबरेज़
मैं खुद जब चाहूँ
कोई चाहे कि नहीं मैं चाहूँ
यही आज़ादी है क्या ?
किसी बंदिश किसी जंजीर के डर से आगे
जिस तरह चाहूँ उसी तरह जिऊँ
यही आज़ादी है क्या ?
अपनी मंज़िल की और तक्रदीर की तारीख़ लिखूँ
यही आज़ादी है क्या ?

अपने ही पहलू में मैं बैटूँ जुदा इस दुनिया से
यही आज़ादी है क्या ?
अपनी शर्तों पे मैं तारीख़ और तक्रदीर लिखूँ
अपने ही मुल्क की और उससे मोहब्बत की बात
लिख सकूँ गर बस इतना तो समझना यह कि
मेरी आज़ादी है बस यह मेरी आज़ादी है

(दक्षिणी सूडान ने वर्षों अपनी पहचान के लिए संघर्ष किया अंततः पिछले साल नया देश बना। यह उत्तरी सूडान से अलग अपनी अस्मिता का प्रतीक है। बैथन मैक्सवैल की यह कविता इसी की आवाज़ है।

मेरे वतन

मेरे वतन

मेरे वतन

अजमत तेरी और तेरा हुस्न
तेरे पहाड़ों में छिपी
शौक्रत, जमाल-ओ-सादगी
माहौल में धज का समां
जीवन का चलता कारवां
खुशियां बिखरती हैं जहां
उम्मीद की अंगड़ाइयां
क्या देख पाऊंगा तुझे
शादाब और महफूज मैं
बा-इज्जत और पुर वक्रार
क्या देख पाऊंगा तुझे
ऐसी बुलंदी की तरफ
जो कहकशां को चूम ले

इस मुल्क का कोई जवां
थक, हार सकता ही नहीं
आजादी का परचम लिए
वह मौत से टकरायेगा
और मौत के होठों से वह
बस जाम पीता जायेगा
पर अब नहीं मुमकिन कि हम
दुश्मन के कारिंदे बने
उनकी गुलामी हम करें
बेइज्जती सहते रहें
और ताजिंदगी मर-मर जियें
हम लेंगे वापस अजमतें
अपने वतन की नेमतें

मेरे वतन

मेरे वतन

एक हाथ में तलवार है
दूजे कलम की धार है
अब यह हमारे हैं निशां
इनसे ही होगा सब बयां
अब गुप्तगू किस काम की
अज्ञमत का लेकर अज्ञम हम
अब उठ खड़े हैं हम वतन
इज्जत का बा-इज्जत क्रदम
लहरायेंगे परचम अब हम
अय मुल्क तेरे सीने से
उखड़ेंगे दुश्मन के क्रदम
जीतेंगे अब यह जंग हम
मेरे वतन
मेरे वतन

इब्राहीम तुकान की कविता 'माई होम लैंड'

इक नज़र देखो मुझे

इक नज़र देखो मुझे
मेरी चाहत है मैं नगमें मुहब्बत के लिखूं
रंग में ढाल दूँ मैं तितलियाँ और इन्द्रधनुष
अपनी साँसों में बसा लूँ मैं गुलाबों कि महक
और मैं रक्स करूँ
साज़-ओ-आवाज़ परिंदों कि हों मैं रक्स करूँ
नौनिहालों के तबस्सुम के नज़ारों को मैं
बंद पलकें लिए तकती रहूँ मैं मुद्दत तक
उनकी पेशानी पे बंदूक के साये भी न हों
दूर परियों के देश से लाकर
कुछ कहानी सुनाऊँ बच्चों को
किसी बंदूक की धमक की नहीं
तोप, मीज़ाइल की गरज की नहीं
लेकिन मुमकिन है क्या कि ऐसा हो ?
मेरे दिल में धंसा है इक खंज़र
दर्द से सीना मेरा छलनी है
खून रिसता है चीख पड़ती हूँ

बोल इंसानियत कहाँ है तू
तेरी नज़रों के सामने ही मैं
ज़बह होती हूँ लम्हा दर लम्हा
देख मैं चीखती हूँ सहमी हूँ
बोल इंसानियत कहाँ है तू
किस लिए तूने मोड़ ली नज़रें
क्यों यह चेहरा छुपा लिया तूने
मैं यहाँ सड़ रही हूँ मुद्दत से
गाज़ा की चीखती सी सड़कों पे
आ मिला मुझ से तू ज़रा नज़रें
सिसकियाँ भर रही हूँ देख यहाँ

गाज़ा की चीखती सी सड़कों पे
सुन मेरे बैन देख अशक मेरे
बोल इंसानियत तू बोल ज़रा
खोल अपनी यह बंद नज़रें तू
खोल बहरे जो कान हैं तेरे
जबकि मैं खुद और मेरे साथ ही साथ
मेरे मासूम नौनिहाल यहाँ
मौत की नींद सोने वाले हैं।

नाहिदा इज्जत की कविता 'लुक एट मी'

माई एंग्री कैट

फिर वही एक सवाल
कितनी ही बार वही एक सवाल
मेरी दुनिया में कोई और भी मौजूद है क्या
फिर वही एक सवाल
क्यों नहीं ? सोचा भी क्या था तुमने ?
कब्रगाहों में भी आते हैं बहुत से इंसान
क्यों नहीं ? कितने ही हैं मर्द वहां
किसी गुलशन में परिंदों की कमी होती नहीं
तुम तो बस एक थे, बस एक अकेला अनुभव
और मैं हूँ कि इस अनुभव से हुई हूँ बेज़ार
अब मैं आज़ाद हूँ करती हूँ हवा में परवाज़
अपनी कमज़ोरी से नादानी से पाकर के नज़ात
आखिर अंजाम को आती है हर एक ख़ुशफ़हमी
क्या कहा ! मुझसे मुहब्बत है तुम्हें फिर भी अभी
फिर वही लफ़्ज़
वही मुर्दा ज़मानों की कहानी कहना
यह तो बतलाओ कि मुझसे तुमने
जिस्म पर रेंगते हाथों के सिवा कब तुमने
कोई दिलचस्पी का इज़हार किया कब तुमने
क्या हुआ ! तुमको अचानक कि यह सैलाब उठा
इश्क़ के जज़्बे ने कब तुममें हिलोरे मारी
कीमती घर की सजावट में भरे फर्नीचर
उनमें से एक थी मैं उसके सिवा कुछ भी नहीं
मैं वह गुलशन थी जिसे तुमने उजाड़ा हर दम
उसकी खातिर तुम्हें गम था न ही कोई थी शर्म
क्यों मेरे सीनों को यूँ घूर रहे हो ऐसे
कभी मालिक की तरह छाये थे इन पर जैसे
यूँ बिलखते हो मेरे सामने आकर कैसे
सलतनत अपनी बिखरती सी लगी हो जैसे

देखो किस तरह बिखरता है तुम्हारा मंसब
इंतक़ाम पूरा हुआ झुका अब जुल्म का सर
अब कहो बाज़ी कहां पर ठहरी
मैंने बरखा था तुम्हें खुद को कुछ ऐसे जैसे
कोई दर खोल दे जिनाते-ए-अदन¹ के जैसे
सारे फल-फूल की शीरीनी तुम्हें दे डाली
सब्ज़ा दे डाला हर एक चाह तुम्हें दे डाली
सारी एहसान फ़रामोशी की मीरास के बाद
कोई जन्नत न जहन्नम का सिला मेरे पास
काश एक बार बस एक बार तुम्हारी नज़रें
काश इंसान सा महसूस करा पाती मुझे
दूसरा मर्द जो तुम देखते हो मेरे साथ
इसके होने का सबब होता न फिर मेरे पास

निज़ार कब्बानी की कविता 'माई एंग्री कैट'

1. गार्डन ऑफ़ इडेन

शब का तूफान क्रयामत सा था

ज़र्द और सुरमई एक शाम की तारीकी में
खुद से शरमाई हुई रौशनी के दामन में
आसमां के सभी तारे भी पशेमान से थे
अपने चेहरों को नक्राबों में छिपाए से थे
अपनी ग़ैरत को भुला कर भी बहुत फख्र में था
आसमान दूर तलक फैला देव-पैकर सा
बरहना जिस्म खुली बाँहों से दावत देता
चाँद को खिलने पे उकसाता सा बहलाता सा
हवा खामोश थी ऐसे जैसे कोई नगमा खामोश
जैसे वाकिफ़ हो कि धरती का समां है कैसा
जैसे गुमनाम गुनाहों से पटी हो धरती
दूर तक खून पसीने में सनी हो धरती
अशक के एक समंदर में दबी हो धरती
शब की तारीकी में कुछ राज़ लिए हो धरती
हामेला पेट में भी भूक के साये लरज़ाँ
अधखुले जिस्म में बच्चों की दर्दमंद ज़बां
चाँद से जिस्म ज़िनाकारों कि जब भेंट चढ़े
घर पे ख़ाविंद न था जो कि कोई आह सुने
गोधरा आग में लिपटा तो लपट फैल गयी
बामियाँ बुद्ध के आंसू में सराबोर हुई
इन्तेक्राम आग में बारूद में पैकर ले कर
कितने अनजान फरिश्तों के जवां सीने पर
मौत बन कर जो गिरे उसकी कहानी न बनी
कितने बचपन थे कि फिर उनकी जवानी न पली
रेलगाड़ी में जो बारूद का अम्बार गिरा
कितनी ही कोख जली कौन मरा क्या है पता
ज़िंदगी है कि कभी सह न सकी अपनी शिकस्त
सारे मंज़धार से तूफानों से भी टकरा कर
कोख जो माँ की थी, फितरत की थी, जीवन की थी

माँ थी वह धरती पे पलते हुए इंसानों की
कोई बेटा कोई वालिद कोई रहबर कि सिपाही कोई
कोख में पलते हैं और उससे जनम लेते हैं
कोख बस कोख नहीं माँ है और उसका है सवाल
कब तलक कोख जलेगी यह समझना है मुहाल
सालेहा साल की तारीख भी कैसी तारीख
वही बेरंग से किस्से वही उलझी तारीख
ठंडी बारिश न उम्मीद न सूरज की किरन
कोई खुशीद संवारेगा कभी सुबह कि जुल्फ
या कि फिर गर्क अंधेरों में रहेगी हर सुब्ह

रानु उनियाल की कविता 'ए डस्ट स्टॉर्म इन द मिडिल ऑफ नाइट'

हम वापस आएंगे

मेरे फिलिस्तीं, ऐ वतन
ख्वाबों में खोऊं किस तरह
ज़ख्मों की गहराई लिये
आंखें करें सौ-सौ गिला
मैं सारे आलम को करूं
पाकीज़ा तेरे नाम से

प्यारे वतन ये मेरे ग़म
मैं राज़ ही रखता मगर
आशिक हूं पर, मजबूर हूं

ये रोज़-ओ-शब के कारवां
अफसाने जिनमें हैं निहां
साज़िश के तूफ़ां हैं रवां
है एक तरफ़ दुश्मन जहां
कुछ यार भी हैं दरमियां
तू ही बता प्यारे वतन
तेरे बिना क्यों कर जिऊं

पर्वत तेरे, तेरी ज़मीं
और खूं में लथपथ वादियां
आवाज़ देती हैं मुझे
वो देख उफ़क़ की लालिमा
दरिया के रोने की सदा
धारों में डूबी सिसकियां
कब से पुकारें हैं मुझे
कूचे तेरे, तेरे शहर
अब हैं यतीमों के नगर
हैं चीखते शामो-सहर

यारों को लेकिन है यकीं
होगी हमारी फिर ज़मीं
हम लौट कर फिर आएंगे
खाके वतन के हुस्न को
बोसों से हम चमकाएंगे
एक रोज़ ऐसा आएगा
यूँ वक्रत पलटा खाएगा
उठेगी बन आंधी हवा
गूँजेगी तूफ़ां की सदा
हम साथ लेकर आएंगे
उम्मीद, नग़में, कहकशां
चिंगारियां और बिजलियां
सर, बाजू, चेहरे, त्यौरियां
तलवार, खंजर, दिल और जां

फिर सुबह ऐसी आएगी
फिर सुबह ऐसी आएगी
सहरा पे जो मुस्काएगी
लहरों पे नग़में गाएगी

अब्दुल करीम अल करमी की कविता 'वी विल रिटर्न'

फिलीस्तीन का एक आशिक्र

तेरी आंखें

कि उतरता कोई नशतर मेरे दिल में
दर्द महसूस करूं, या कि फ़िदा हो जाऊं
तेज़ झोंकों में हूँ फ़ानूस इनका

रात को चीर दे, और दर्द को गहरा कर दे
ऐसे पेवस्त करो आंखों को सीने में मेरे
तेरी आंखों से मिले ज़ख़म यूँ चमकें जैसे
आज के घोर अंधेरों में रोशनी की किरण
कल के ख़वाबों को भी रोशन कर दे
और मेरी रूह पे भी छा जाए।
और जिस दम मेरी नज़रों से मिले तेरी नज़र
यह भी न याद रहे
हम कभी साथ भी थे, एक ही थी राहगुज़र

तेरे अल्फ़ाज़ मेरा नग़मा थे
मेरे होठों पे वह उभरे थे तरनुम बनकर
लेकिन अफ़सोस कि मौसम बदले
ख़ुशनुमा रंगों पे एक बर्फ़ की चादर फैली
यूँ उड़े लफ़्ज़ तेरे जैसे परिंदा कोई
अजनबी रास्तों में खो जाए
फिर तेरा साथ छूटा
ख़्वाब के आइने भी टूट गए
दर्द के तूफ़ानों में हम डूब गए
ख़्वाब के टुकड़ों की झंकार लिए
ऐ वतन तुझ पे तड़पते ही रहे

तेरी आंखें हैं हम फ़िलिस्तीनी
तेरे हैं नाम हम फ़िलिस्तीनी

तेरे ख़्वाब-ओ-ख़याल, जिस्म, लिबास
तेरी ख़ामोशी और तेरी आवाज़
जिंदगी हो तेरी कि तेरी मौत
हम फ़िलिस्तीनी हम फ़िलिस्तीनी

तू बयाज़ों में जावेदां है मेरे
मेरी लफ़्ज़ों में जो चिंगारी है
तेरे सीने से ही उठाई है
तेरे मज़मूं मेरा सरमाया हैं
ऐ वतन तेरे नाम पर मैंने
घाटियों को भी यूं ललकारा है!
दुश्मनो - तेरे तुंद घोड़ों से
सामना करना मुझको आता है
वक्रत बदला है पर ये याद रहे
पत्थरों और टापों के आगे
देव-पैकर तुम्हारे हर बुत पर
मेरे नग़मों की जवां चिंगारी
बिजलियां बन के बरसने को है

ऐ वतन तेरे नाम पर मैंने
अपने दुश्मन को यूं ललकारा है
अब मुझे चैन नहीं
नींद आए तो मेरे जिस्म को कीड़े खाएं
तुमको यह याद रहे
चीटियां चीलों की नस्लें नहीं पैदा करतीं
सांप के अण्डे सपोले ही जनम देते हैं
तुमको यह याद रहे
पहले भी घोड़ों के रुख़ हमने पलट रखे हैं
और यकीं आज भी है
अपने बाजू में लहू आज भी है।

महमूद दरवेश की कविता 'लवर फ़्रॉम पैलेस्टाइन'

मुहम्मद

मुहम्मद

डरा, सहमा हुआ आगोश में अपने ही वालिद की
सुलगते आसमां को देखता है, सहम जाता है
मेरे बाबा मुझे थामो,
हवाएं तेज हैं और पंख मेरे अब भी नाजुक हैं
अंधेरा हर तरफ़ है कुछ नज़र आता नहीं बाबा
मुहम्मद घर को आना चाहता है
वह मेरी सायकिल और मेरे पहनावे मुझे न दो
मेरा स्कूल दे दो और किताबें मुझको फिर दे दो
मेरे बाबा हमें घर ले चलो, वापस चलो बाबा
दरख्तों के घने साए समंदर की जवां मौजें
मैं उनके साथ अपनी ज़िंदगी फिर से बिताऊंगा
नहीं दरकार मुझको और कुछ बस घर चलो बाबा

मुहम्मद

न हाथों में कोई पत्थर
न तारों का कोई नशतर
वह सीना तान कर तकता है
फ़ौजों की कतारों को
ये जो क्रिस्मत बनी उसकी
कभी मर्ज़ी न थी उसकी

मगर सुन लो कि आज्ञादी का परचम झुक नहीं सकता
मैं इस परचम पे मर सकता हूँ लेकिन रुक नहीं सकता
मैं बाबिल का परिंदा हूँ मेरी परवाज़ ऊंची है
मेरी हद आसमानों की बुलंदी से भी ऊंची है
मगर एक नाम जो मुझको मिला उस नाम के पीछे
सनद दे दी है लानत की मेरे दुश्मन ने खुद लिख के
कोई बतलाए कितने और बच्चे ऐसे जनमेंगे
वतन का नाम और बचपन के लम्हे जिनके न होंगे

मगर वह ख़्वाब देखेगा कि उसके ख़्वाब में तो है
इबादतगाह उसकी और वतन के अनगिनत टुकड़े

मुहम्मद रू-ब-रू था मौत के जो आन पहुंची थी
अचानक ज़ेहन में तस्वीर उभरी जो उसने देखी थी
ये वह मंज़र था जो टीवी के परदे पर नज़र आया
कि भूखे शेर को एक दूध का प्याला नज़र आया
मगर उस दूध के प्याले में उसकी मौत का सामान विष भी था
यूं मोड़ा दूध से मुंह शेर ने जैसे कि वह प्याला
फ़ना कर देगा वहशीपन और ताक़त उसकी पी लेगा

मुहम्मद

कि वह नन्हा फ़रिश्ता जिसका क़ातिल उसके सर पर था
कि वह नन्हा फ़रिश्ता कैमरे जब चमके उस तन पर

वह चेहरा जैसे सूरज, दिल कि जैसे सेब का टुकड़ा
यूं रौशन उंगलियां जैसे क़तारें शमाओं की रौशन
वह पैकर था दमकता क्योंकि वह नन्हा फ़रिश्ता था
वह क़ातिल सोच सकता था कि इस नन्हे से बच्चे को
अभी मैं छोड़ दूं और क़त्ल उस लम्हे करूं इसको
यह बच्चा सीख जाये अपने मुंह से फ़िलिस्ती कहना
ख़ुद अपनी राह चुनना और हमसे सरकशी करना

मुहम्मद

जैसे यीशु सो रहा हो और सपनों में उभरता हो
किसी पाकीज़ा सी तस्वीर में, पेड़ों के साये में
जवां सीनों में और मज़लूम इंसानों के ख़्वाबों में

मुहम्मद

जिसके सीने में लहू का दरिया बहता है
वह अपने आख़िरी मक़सद को लेकर फिर से उठा है।

महमूद दरवेश की कविता 'मुहम्मद'

दर्द

दर्द एक इश्क है
और इश्क एक दर्द
दर्द है तेरा खयालों में मेरे बस जाना
बेकरार करना कि आंसू का सहारा मैं लूँ
दर्द है मेरा तुझे क्राबिल-नफ़रत पाना
दर्द है मेरा कि नफ़रत करूँ उन बातों से
जो मेरे ज़ख्म बने खून-जिगर करते रहे
दर्द है यह कि मैं हूँ आशना अब भी तुझसे
दर्द है मुझको हर उस बात से जो है तुझ में
दर्द है तेरे वह चेहरा कि जिसे देखूँ मैं
कितना ग़मनाक है नज़रें तेरी जानिब करना
दर्द है मुझको कि तुझे याद मेरी आये
कितनी ही वजहें हैं कमबख्त कि तू याद आये
दर्द फैला है हर एक सिम्त जिधर भी देखो
दर्द कुहराम मचाता धमक कर सर में
और नमक बन के पिघलता है मेरे आंसू में
दर्द है रोना बिलख कर तो कभी यह ख़्वाहिश
मौत की गोद में सर रख के मैं रुखसत ले लूँ
ऐसा सरदर्द है यह दर्द कि थमता ही नहीं
सब के सब मेरे खयालों को किया गुम इसने
ज़ेहन के फैले दरीचे से निकलता ही नहीं
ख़्याल क्या ज़िंदगी तक को भी न छोड़ा इसने
और अब दर्द है, मैं हूँ, मेरा सरमाया दर्द

द रनर हू हाइड्स की कविता 'पेन'

रौशनी का शहर

●

कभी ऐसा भी हो कि मेरे पास का सत्राटा मेरा हमदम बन जाए। सत्राटा क्रहक्रहा लगाये और सिर्फ मैं सुनूं। मैं उस से सरगोशी करूँ और वह जवाब में मुस्कुरा दे। उसकी मुस्कराहट मुझे नज़र आये। आईना हमेशा सच न बोले। मुझसे कहे मैंने कुछ नहीं देखा। वह जो दरख्तों के झुण्ड, जो मेरी छत से नज़र आते हैं मुझे पैगाम भेजें मेरे सत्राटे के हाथों। उनमें लिखा हो कि हमारे सारे साये कभी भी ले लेना। हमारे सर पर हमारे सीनों और बाँहों में जो परिंदे बसेरा करते हैं उनकी चहचहाहट हम बचा कर रखेंगे उदास सुबहों में संगीत भर देने को। शाम को डूबता ख़ुशींद अपनी लालिमा के रंग का कुछ हिस्सा मुझ तक छोड़ जाए। कहे सुबह वापस कर देना। अमानत की तरह रखना। सुबह मुझे फिर से उगना है न। रात भर के लिए अपनी ज़िंदगी पर इनसे रंगरेज़ी करना। बयार खिड़की-दरवाजों की बंदिश तोड़ कर मेरे कमरे में रक्स करे और मेरे सत्राटे का साथ दे। मैं इन सब का हिस्सा बनकर देर तक हंसू। तनहा। मगर हुजूम साथ लिए।

आज तुम सबका इन्तेज़ार करूँगा। तनहा।

—5 जून, 2013

●

मैं अपनी ज़िंदगी जी रहा हूँ। कई बार खुद से कहता हूँ और दूसरों से भी। क्या ऐसा है क्या? जी तो मैं रहा हूँ पर मेरे अंदर बहुत सारे और जी रहे हैं। खून मेरी रग में दौड़ रहा है लेकिन दिल की धड़कनों में बहुत सारे लोग धड़क रहे हैं। किसी की आहट सुनी तो मेरा दिल क्यों धड़का। क्या वह मेरे अंदर बसता है। तुमको देखा तो चेहरा खिल उठा। क्या तुम मेरे अंदर बसते हो। आंसू टपके तुम्हारे लिए क्यों। मैं तो अपनी ज़िंदगी जी रहा हूँ।

निकलो मेरे अंदर से कि यह मैं हूँ और मेरी ज़िंदगी। रंगें मेरी। खून मेरे जिस्म में बहता है। सांस मेरी। और दिल और दिमाग भी मेरा। फिर तुम बेचैन क्यों करते हो। नींद क्यों उचाट होती है मेरी। और हाँ तुम। तुमने तो दुश्मनी निभायी। मुझे नाता तोड़ लिया। अचानक मुझे बेचैन कैसे कर दिया। मैंने तो अपने दिल में जगह दी ही नहीं तुमको। मुझ अकेले में कितने लोग बसते हैं। हाँ ज़िंदगी मेरी है। और मैं तनहा। बिलकुल तनहा। रहता हूँ अकेले। सोता हूँ अकेले। नींद मेरी ही खुलती है। पर तन्हाई मुझे कब और कैसे दूर होती है उस पर मेरा अख़्तियार क्यों नहीं रहता। मुझे अपनी तन्हाई चाहिए क्यों कि वह मेरी है। मैं भी खुद का हूँ। ज़िंदगी मैं जी रहा हूँ अपनी। देखो ज़रा

फिर आहट आयी। धड़कन तेज़ हुई। आहट मेरी नहीं है यह। न मेरा वहम। हो सकता है दिमाग़ तुम तक पहुँच गया हो। पर क्यों? दिल में तुम सचमुच नहीं। मैंने तुम्हारा गला घोट दिया कब का। क्रदमों तले खुद रौंदे थे वह फूल जो मुरझा चुके थे। और फेंक आया था उन्हें वक़्त के कूड़ेदान में। दिल और दिमाग़ की सफ़ाई करके अपनी ज़िंदगी खुद को सौंप दी मैंने। सबसे सारे अख़्तियार वापस लेकर अपने दिल के दरिचों पर आहनी जंजीरें लगा दी थी कि कोई फिर इनको वापस न ले जाये। आज्ञाद। खुले आसमान के नीचे बाहें फैलाये कि अब सारा आकाश जिस पर मेरा हक़ है, ज़मीन जो मेरे हिस्से की है। अब मेरी ही है। सारे अख़्तियार मेरे हैं। कब? कहाँ से? किन लोगों ने दरार पैदा की। देख रहा हूँ कि मेरे अंदर मैं अकेला फिर भी नहीं हूँ। कितने लोगों ने आशियाना बना लिया है।

कहता हूँ मुझे अकेला छोड़ दो। आवाज़ मुझ तक वापस आ जाती है। इस बस्ती के लोगों ने मेरे अंदर ही बैठ कर ताले लगा लिए हैं। मैं अपने अंदर जाने को रास्ते तलाश रहा हूँ। अँधेरा बढ़ रहा है खुशीद के ऊपर। सूर्यग्रहण या ख़्वाब।

—11 जुलाई, 2013



हैदराबाद में आज बहुत लोग आये। अगली क्रतार में कुछ लोग बैठे बातें कर रहे थे। अब वह खुश थे। उनको कोई सुन नहीं पा रहा था। निडर अगली क्रतार में बैठे आपस में बातें करने के साथ उठते और मुंह चिढ़ाते स्टेज के शहंशाह को। उस पर दूसरे जोर के ठहाके लगाते। एक ने कहा यह है मेरा पेट। इसमें मेरी औलाद है। आ चीर इसको। दूसरों ने कहा मत बोल डर जाएगा। दूसरी औरत ने तो हद कर दी। लोहे की छड़ें लेकर खड़ी हुई। बोली, मेरा जिस्म तो यह रहा जहाँ यह छड़ें संभाल कर रखीं हैं। दे दूँ इनको वापस तोहफ़े में। महिलाएं मुंह दबा कर हंसी पर ज़रा देर में सिसकियाँ और फिर हिचकियाँ गूँजने लगीं। लेकिन कोई सुन न पाया। कुओं से निकले इंसान अब भी भीगे थे। वहीं सावन के गीत गाने लगे। कभी जश्न का माहौल तो कभी मुहर्रम जैसा। अचानक ख़ुफ़िया एजेंसी ने इनको देख लिया। पता नहीं किसने मुखबिरी कर दी। बिलकुल वैसी जैसे मुखबिरी हुई थी कि शहंशाह का क्रत्ल करने लोग अहमदाबाद आ रहे हैं। लेकिन चाह कर इनको गिरफ़्तार न किया जा सका। एक तरफ़ इनका रक्स था तो दूसरी तरफ़ पैसे देकर आने वालों का। मगर यह क्या? अचानक 58 लोगों का एक जुलूस बैनरों के साथ आ मिला अगली क्रतार में बैठे लोगों के साथ। गोधरा

का काफिला। पहले से मौजूद लोगों के साथ सबने मिलकर ह्यूमन चेन बनाई। साथ नारे बुलंद किये। 'तुमने हमारे साथ धोका किया पहले हमको इन्साफ दो।'

— 11 जुलाई, 2013

●

मैं रौशनी के शहर का बाशिंदा हूँ। चकाचौंध रौशनी। इस शहर पर एक तरफ सूरज, चाँद, सितारे अपनी रहमत नाज़िल करते हैं वही अँधेरी रातों में जुगनू चुपचाप पहरा देते हैं और एहसास दिलाते हैं कि हमारी हयात में अँधेरा नहीं छायेगा। बिजलियाँ कभी तारों से गुज़र कर अँधेरों को मात देती हैं तो अक्सर आसमान से उठने वाली कड़क कहती है कुछ नहीं तो रौशनी की निगहबानी बादलों को चीर कर की जायेगी। यह रौशनी का शहर है और मैं इसका बाशिंदा। लेकिन मैं इस रौशनी से घबराता हूँ। रौशनी मेरे किसी अँधेरे कोने को छिपने नहीं देती। पर्दों की दरारें चीर कर पर्दा फ़ाश करती हैं। इस रौशनी के शहर में मेरी तरह हर कोई अँधेरा तलाश करता है। जिसमें अपना चेहरा न दिखाई दे पर दूसरे चेहरे साफ़ नज़र आयें। ऐसा क्या है। होना तो चाहिए कि लोग अँधेरे में रहें और अपना चेहरा रौशन हो। पर दस्तूर बदल रहा है या डर है रौशनी का? मैं अँधेरों का गुमशुदा साया आया इस शहर में कि रोशन शहर का बाशिंदा बन कर कोई रहना चाहता है। मसरूर देखता रहा रौशनी का फैलाव जो ज़मीन से आसमान तक नातमाम थी। मगर धीरे-धीरे आँख को चुभने लगी रौशनी। श्मशान से उठने वाली रौशनी जैसी दर्दनाक रौशनी। पर्दों से छनने वाली हर रौशनी अपने साथ कुछ जलने की बू लाने लगी।

मैं ऋग्वेद का जाप करने लगा :

“आतिश तू सुलग, जीवन में ऐसी रौशनी भर

ऐ आतिश, सूरज से तू निकल

ईश्वर की किरण तू मुझसे मिल”

पर मैंने पाया कि तमाम इबादतख़ानों में यही दुआ जारी है। मैंने देखा कि इस रौशनी की परवरिश के लिए ज़मीनी देवता चिराग पर चिराग रौशन कर रहे हैं। और इनके रखवाले हैं कुछ अनजान चेहरे। अचानक सूरज, चाँद, सितारे मुस्कुराये। और गायब हो गए... जुगनुओं ने आँखें बंद कर लीं। बिजलियाँ कड़कीं मगर वजूद पर क्रहर बन कर। फिर अँधेरा छाया रौशनियों के शहर में। मैंने चैन की सांस ली। दुबक गया मैं। कहीं दूर फिर भी दिए टिमटिमा रहे थे। नज़र आया इबादतख़ानों से निकल कर कुछ साये भागे और गुम हो गए। अगली

सुबह सूरज फिर आब-ओ-ताब के साथ नमूदार हुआ। और नज़र आये खून के धब्बे जो रौशनी बन कर चमक रहे थे। काली रौशनी... इस रौशनी के साथ शोर भी था। बहरा कर देने वाला... कोई रो रहा था।

—16 अगस्त, 2013

●
दिल की सबसे बड़ी ख्वाहिश। बुत बन जाना। न कोई संवेदना न एहसास। न दर्द का खतरा न खुशी की आस। न खुदा की चाहत न ईश्वर का विश्वास। बुत तो बुत है। तनहा। अपने ही पास। बुतपरस्त आये इसका उसको क्या एहसास। वह बस है। पत्थर। बस पत्थर। किसने नहलाया। किसने तिलक लगाया, किसने माला जपी उसको खबर नहीं। हाँ खबर उनको है जो सब कुछ किये जा रहे हैं। खुश रहो कि तुमको पता है। और हाँ जश्न मनाओ कि तुम समझते हो कि बुत ने सब कुछ सुन लिया और तुम्हारी याचनाओं पर पूरा ध्यान दे रहा है। पर बुत तो बुत है। पत्थर। पत्थर हर जगह हैं। बस कहीं बुत कहे जाते हैं कहीं बुत के मुखालिफ़। वह जो काबा है पत्थरों का है। बुद्ध पत्थर के और मसीह भी पत्थर के। नानक और कबीर भी पत्थर से सज गए।

मेरी ख्वाहिश है बुत बनना। मैं बुत पूजे जाने के लिए या इबादत के लिए नहीं बनना चाहता। मैं बुत बनना चाहता हूँ कि एहसास और ज़रूबत से आज्ञाद हो जाऊँ। देखो तो पत्थर दिल इंसान, जिनको इंसान का पास नहीं चले बुतों की जानिब सजदा करने को। इंसान ...कोई है ...अरे पत्थरों ने मुझे रौंद डाला...कोई है ...आते हो या बुत में तब्दील हो जाऊँ।

●
हमारे रौशनी के शहर का हर घर एक ताबूत है जिसमे हलचल बनी रहती है। क्रहक्रहे, गीत, आंसू, प्रीत। सब इन्ही ताबूतों में समाये हैं। इनमे से रोज़ बद-रूहें निकल कर रोबोट बन जाती हैं। उनके हाथ कभी गाड़ियों के दरवाजे खोलते हैं तो कभी फिसलते हैं फाइलों पर, सोने चांदी और पैसों पर। जिस्मों की लोच पर। पैर कभी ज़मीन के सीने पर धमकते हैं तो कभी ज़िंदगी के गुलिस्तान पर आवारगी करते हैं। मसलते हैं खिलते फूल। कलियों की मुस्कान.. सारे रोबोट एक ही जुबान बोलते और समझते हैं। यह रोबोट देर रात ताबूत में वापस आते हैं। बद-रूह बनकर। यह बद-रूहें दूर दराज़ तक अपने कारनामे सुनाती हैं। चांदी की चमक और सोने की दमक की कहानी। जिस्मों से कैसे लिबास उतरा था

और किस तरह जिस्म रौंदा गया था उसकी तवील दास्तान। और तवील। आगाज़ से अंजाम तक क्योंकि बद-रूहें इसी को जाम-ए-सेहत मानती हैं।

इन्ही ताबूतों से ज़रा दूर क़ब्रगाहें हैं। दूर तक फैली हुई अनगिनत क़ब्रों की पनाहगाह। इसमें जिस्म रहते हैं। रूहें दम तोड़ चुकी हैं। हड्डियां, कंकाल, बिना आँख के गड्ढों वाली खोपडियां। मगर यही जिस्म हैं इनके। इन जिस्मों पर दास्तानें भी लिखी हैं। अपनी भी और दूसरों की भी। “कहने लगा कि देख के चल राह बेख़बर -मैं भी कभू कसू का सर-ए-पुर गुरूर था।”

यहाँ बंटवारा है जिस्मों के बीच। एक वह जो मरियल जिस्म पर सिर्फ़ सफ़ेद ओढ़न साथ लाये थे। दूसरे वह जिनके शफ़फ़ाफ़ कफ़न के ऊपर फूलों की चादरें चमकी थीं। वही फूल जिनको रोबोट के पैरों ने मसला था जैसे ज़िंदगी के गुलिस्तान पर आवारगी हो। मसले गए खिलते फूल। चादरों पर कलियां थीं। मुस्कान भी थी कलियों पर मगर ज़हरीली।

पहले किसम के यह जिस्म क़ब्रों के अंदर पड़े इन्तेज़ार में थे। बद-रूहों के आने का इन्तेज़ार। कुछ सीधे-सादे सवालियों के साथ। दूसरे किसम के जिस्म अपने राज़दारों, हमदर्दों का इन्तेज़ार कर रहे थे कि आओ हम पर रो लो। हमने यहाँ सिर्फ़ क़हक़हे सुने हैं। रोते हैं हम तो क़हक़हे उनको दबा देते हैं। यह नंगे मरियल जिस्म बेहद ताक़तवर जिस्म बन चुके हैं यहाँ। जल्दी आओ कि हम कोई सूरत निकाल सकें इन ताक़तवर जिस्मों से बचने की।

—17 अगस्त, 2013



ज़िंदगी की सबसे बड़ी दुर्घटना है बिना मर्ज़ी के दो व्यक्तियों के बीच प्रेम। संबंधों ने हमें अलग-अलग घरों में अलग-अलग पहचान देकर पैदा कर दिया। भगवान/ खुदा जो भी नाम हो तुम्हारा। अगर तुमने ऐसा किया तो कितनी बड़ी साज़िश है यह। तुम तो सबको एक तरह की पहचान के साथ पैदा कर सकते थे।

पर हम बिना आवेदन दो व्यक्तियों के माँ बाप बनने की चाहत या यूँ ही दुर्घटनावश ज़मीन पर एक निश्चित पहचान के साथ आ गए। या हमारी पहचान निश्चित कर दी गयी। और खुद अपनी पहचान से दूर होने पर भी नाम का ठप्पा पहचान थोप देता है। उफ़। मैं वह पहचान जो मुझे मिली उस से पीछा छुड़ा कर रहूँगा

अब पहचानें कहीं नारा-ए-तकबीर, कहीं हर-हर महादेव का नारा लगा

रही हैं। इलाहाबाद में बैठे हुए मैं दोनों नारे सुन रहा हूँ जो अभी मुंह से नहीं निकले पर बेताब हैं निकलने को।

कौन ज़िम्मेदार हुआ।

—22 अगस्त, 2013



आज अदालतों और संसद और हर कोने में हर गली में हंगामा ही हंगामा है। लाखों की भीड़ उमड़ती आ रही है। एक कोहराम है। गांवों, शहरों, कस्बों से अनगिनत चेहरे हर तरफ़ से तेज कदमों से जुलूसों में शामिल हो रहे हैं।

“घना व डरावना अवचेतन ही/ जुलूस में चलता/ क्या शोभा-यात्रा किसी मृत्यु दल की?” सब चेहरे एक दूसरे को पहचानते हैं। चेहरे पर पड़ी खराशें, नील पड़े जिस्म निशानी हैं एक दूसरे की पहचान लेने के लिए। एक भी चेहरा दूसरे से अनजान नहीं। इन चेहरों पर न दुःख है, न आँखों में आंसू। तेवर हैं जिनकी ताब लाना नामुमकिन है। जाने क्या हुआ कि सड़कों पर सीना तान कर चलने वाले, सड़कों को हर रोज़ रौंदने वाले गायब हैं। आज सारे घरों में बंद हैं। और जो चेहरों का सैलाब समुन्द्र बनता जा रहा है उसकी हर बूँद वही है जिस पर पाबंदी लगी थी घरों से बाहर क्रदम न रहे। किसी के हाथ में लोहे की छड़ें हैं तो किसी के हाथ में ईट-पत्थर, लोहे के टुकड़े। चेहरे आपस में बातें कर रहे हैं। “मैं चुप रह गयी। किसी अखबार या थाने ने मेरा नाम नहीं लिया। आज सबसे बुलंद आवाज़ मेरी होगी।” “मेरा मुंह तो खुद मेरे बाप ने बंद कर दिया था। मगर मेरी जाँघों के दरमियान आज भी मेरे बाप के अंग रेंग रहे हैं।” “मैं तो अपने पति के हाथों जनाज़ा बनती रही।”

एक चेहरे ने अपनी ही अंतड़ियों की माला बना रखी है। उसे देखो कि उस चेहरे ने कुदरत के बख़्शे अपने सीने के दो चिराग़ हाथों में उठा रखे हैं। मशाल की तरह। इन चिराग़ों पर अनगिनत निशान हैं। दांतों के, नाखूनों के, पंजों के...मगर हर ज़ख़म से रौशनी निकल रही हैं। मशाल को तेज़ कर रही हैं मशालें।

“दिया जल रहा है/ पीतालोक-प्रसार में काल चल रहा है/ आस-पास फैली हुई जग-आकृतियाँ/ लगती हैं छपी हुई जड़ चित्रकृतियों-सी।”

यहाँ जिंदा लाशें भी हैं और मुर्दा इंसान भी। जिंदा लाशों और मुर्दा इंसानों ने ज़ख़म ताज़ा रखे हैं। लाल खून हर तरफ़ फैल रहा है। इंसानों का समुन्द्र अपने साथ खून का सैलाब भी ले आया है। सैलाब रोको कि इसमें सब डूब जायेगा। मगर इस सैलाब के लिए कोई बाँध नहीं बनाया जा सकता। तैयारशुदा बाँध भी

अपनी उम्र पूरी कर चुके हैं। बिखर रहे हैं।

‘देह में तन गये करुणा के काँटे

छाती पर, सिर पर, बाँहों पर मेरे/ गिरती हैं नीली/ बिजली की चिनगियाँ/
रक्त टपकता है हृदय में मेरे/

आत्मा में बहता-सा लगता/खून का तालाब’

इस सैलाब से सबसे ज्यादा खौफ़ज़दा हैं वह लोग जिनके नाम किसी
मुक़दमे में दर्ज नहीं हैं। जिन पर आज तक किसी ने उँगली नहीं उठायी।

आज डूबेगा इसी तालाब में इसी सैलाब में देश का कोना-कोना।

—25 अगस्त, 2013



श्मशानों और क़ब्रिस्तानों में आज सन्नाटा रहा। यहाँ से सारे लोग निकल कर कहीं
चल दिए थे। एक दूसरे से कुछ बात करने, दुःख दर्द बांटने चले गए थे। इन्हें
किसी से शिकायत नहीं थी। बस मिल बैठना था।

अनगिनत सफ़ेदपोश। कफ़न से ढंके हुए और अनगिनत बेकफ़न बियाबान
में ध्यान लगाये थे। सबने एक साथ गीता के श्लोक पढ़े :

‘नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः’

फिर एक साथ कहा—

‘इन्ना लिह्लाहे व इन्ना अलैहे राजेउन’

‘आओ अब दुआ के लिए हाथ उठाएं। दुआ करें कि जिन्हें हम पीछे छोड़
आये वह सलामत रहे।’ अपने ज़ख्मों का दर्द महसूस नहीं हो रहा था पर दूसरे के
ज़ख्मों को देख कर कराह निकलती थी। श्मशान से आये एक जिस्म ने
क़ब्रिस्तान से आयी एक महिला के सिर पर हाथ फेरा। अब महिला पुरुष का भेद
भी मिट चुका था। महिला की आँखें डबडबा आयीं। उसके भाई ने कहा ‘मेरी
बहन को मेरे सामने चार लोगों ने...’ कहते-कहते उसकी आवाज़ रुंध गयी।
अचानक चारों तरफ़ सिसकियां फैलने लगीं। श्मशान से आयी महिलाओं ने
अपनी दास्तान कही। सिसकियाँ और तेज़ हो गयीं। अजीब माहौल बना हुआ
था। जिनको अपना दर्द महसूस होना बंद हो चुका था पर वह मोहब्बत की
शबनम से ज़ख्म धोकर, दूसरों के ज़ख्मों पर मरहम लगाना चाहते थे। अचानक
एक सफ़ेदपोश की आवाज़ गूँजी। ‘जो दुआ मैंने मांगी थी शायद आसमां से
टकरा कर कहीं खो गयी। ज़रा कान लाग कर सुनो इस शोर को। कैसा हंगामा

है।” आवाजें साफ़ होने लगीं। कुछ नारे थे और कुछ कसमें। क्रदमों तले ज़मीन थर्रा रही थी। सफ़ेदपोश ने कहा। ‘जिन्हें हम पीछे छोड़ आये अब शायद वह सलामत न रह पाएँ।’ अचानक सारे जिस्म खड़े हुए। कदम चल पड़े। शायद सब को पता था अब कहाँ जाना है और क्या करना है।

अयोध्या के इर्द गिर्द इन जिस्मों ने नाकाबंदी कर दी है।

—27 अगस्त, 2013



ख़ुदा ने इबलीस (लुसिफर) को सामने पाकर गुस्से से उसकी तरफ़ देखा। इबलीस के होंटों पर ज़हरीली मुस्कराहट फैल गयी। ख़ुदा इस ज़हरीली मुस्कराहट को समझ न पाया। उसकी आँखों में गुस्से की जगह जिज्ञासा उतर आयी। जिबरील (गाब्रियल) की तरफ़ सर घुमा कर ख़ुदा ने देखा सवालिया नज़रों से। इबलीस ने ख़ुदा और जिबरील की मुश्किल आसान करते हुए कहा। ‘परवरदिगार, मैं तुम्हारे अज़ीमुश्शान फरिश्तों में से एक था जिबरील की तरह। तुमने मुझे जन्नत से निकाला क्योंकि मैंने आदम के सामने सजदा करने से इनकार कर दिया था।’ ख़ुदा भी सुनता रहा और जिबरील भी। इबलीस बोलता रहा। ‘जन्नत से निकलते वज़त मैंने कहा था की ऐ ख़ुदा तू आदमज़ात को नेकी पर ला और मैं उनको बहकाने का काम करूँगा। तूने जब से आदम को पैदा किया तब से तू उनको सही रास्ता दिखाने की कोशिश कर रहा था न? मैं शैतानों का बादशाह इबलीस सिर्फ़ तेरा तमाशा देखता रहा। तू मुझ से हारा या मैं तुझसे?’ सवाल सुनकर ख़ुदा असहज महसूस करने लगा। इबलीस ने जिबरील की तरफ़ नज़रें घुमार्यीं। जिबरील ज़मीन की तरफ़ देखने लगा। जैसे संजय कुरुक्षेत्र देख रहा हो। अब जिबरील में हिम्मत न थी की इबलीस से नज़रें मिला सके। इबलीस ने कहा सुनो मियां जिबरील ज़रा संजय बनो और धृतराष्ट्र को टेलीविज़न दिखा दो। ख़ुदा थर्रा रहा था गुस्से से। मगर आवाज़ नहीं निकल रही थी। इबलीस ने यही मौक़ा ग़नीमत जाना ख़ुदा को और भी शर्मिंदा करने का। बोला ‘दोनों जहाँ के मालिक, एक आदम न संभाल सके, कायनात क्या संभाल पाओगे। और जो तुमने आदम की पसलियों से हव्वा पैदा की थी उसका तुमने क्या किया? छोड़ दिया उसको कि आदम की पसलियां हव्वा की पसलियां भंभोड़े।’ ख़ुदा लरज़ उठा। कभी अपनी दोज़ख़ पर नज़र डालता तो कभी ज़मीन पर। फिर एक बार उसने जन्नत की तरफ़ नज़र डाली। हू का आलम... दूर-दूर तक आदम न

आदमजात. बियाबान। और उस बियाबान में एक कोने में कुछ आबादी भी थी। इबलीस बोला 'हाँ वहाँ जरूर देख परवरदिगार। देख तो तेरी जन्नत कैसे खुशियों से आबाद है।' खुदा ने देखा बस्ती से सिर्फ मजलूम, लाचार झाँक रहे थे। आहें भी सुनायी दे रही थी। फ़ौरन नज़रें हटा लीं खुदा ने। खुदा को लगा वह गंगा खड़ा है। दोनों जहान का मालिक। एक मुजरिम एक क़ैदी सी सूरत बनाये खड़ा था। सन्नाटे में इबलीस की आवाज़ फिर गूँजी, 'तू समझता है मैंने किसी को बहकाया? मैंने लोगों को बुरा रास्ता दिखाया? अरे मैं तो बैठा सिर्फ तमाशा देखता रहा। तूने ही तो मुझे बनाया था। कायनात तेरे इशारे पर चलती है तो मेरी क्या औकात? वतो इज्जो मनतशा वतो ज़िल्लो मनतशा..वही इज्जत देने वाला है, वही ज़िल्लत देने वाला है। यही कहा था न तूने कुरान में। देख कितनी इज्जत है मासूमों की मजलूमों की... तेरी हव्वा की। और ज़रा उधर निगाह डाल... कितने खुदा नज़र आ रहे हैं तुझे? अब वही इज्जत देते हैं और वही ज़िल्लत।' खुदा ख़ामोश... जिबरील दहशतज़दा... इबलीस फिर उसी तलखी से मुस्कुराया और ज़मीन का रुख़ कर गया।

—28 अगस्त, 2013



ताबूतों के कारवां में मुर्दों का कंधा देना देखकर सहम जाना लाज़मी था। मैं छिप कर तमाशबीन बन गया। अनगिनत ताबूत चले जा रहे थे क़ब्रिस्तान की जानिब। मुर्दों का हुजूम था जो कंधे बदल रहा था। ज़रा देर में मेरे अंदर के डर ने क़ाबू पाया और मैं धीरे-धीरे आँख बचा कर पीछे चलने लगा। मैंने देखा कि मुर्दे रो भी रहे थे। मातमी सूरतें और आँखें लाल। जैसे-जैसे क़ब्रितान नज़दीक आ रहा था मुर्दों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। क़ब्रिस्तान पहुंचते ही ताबूत ज़मीन पर रख दिए गए। अचानक क़ब्रों के दहाने खुलने लगे और एक-एक क़ब्र से सैकड़ों मुर्दे बाहर आने लगे। उन्होंने अपने-अपने कफ़न उतार कर ताबूतों के पास रख दिए। फिर ताबूत खोले गए। हर ताबूत ख़ाली था। एक-एक करके ताबूत क़ब्रों में उतार दिए गए। एक बुजुर्ग मुर्दे ने एलान किया। 'क़ब्रें खुली रहेंगी। और हम जो सालों से, दशकों से आराम कर रहे थे अब आराम हम पर हराम है। हम अब ज़िम्मेदारियां अपने हाथ लेंगे। भरोसा उठ गया। और इन खुली क़ब्रों में ज़िंदा, सांस लेते दोपाये सोयेंगे।' मुर्दे अचानक चारों तरफ़ अनजान राहों पर चल दिए। मेरे क़दम ज़मीन पर जम गए। मुझ पर बेहोशी का आलम तारी होने लगा। अचानक मैंने महसूस किया कि मैं चल रहा हूँ अनजाने में। मैंने पाया कि मैं

कफ़न पहन रहा हूँ। फिर मैं एक क़ब्र में उतरा और ताबूत के अंदर लेट गया। क़ब्रिस्तान में अचानक ठहाके गूँजे और क़ब्र का दहाना बंद हो गया। घुप अँधेरे में मुझे गहरी नींद आ गयी।

—20 सितंबर, 2013

●

जब सच्चाई को ज़ख़्म लगते हैं तो ज़ख़्म से टपकने वाले लहू का एक-एक क़तरा फ़रेब की आस्तीन पर जुर्म की मुहर लगाता है। हर खामोशी, हर दर्द चीख कर फ़रेब का पर्दा फ़ाश करता है। फ़रेब चीखता है कि मुझे सच्चाई मान लो। पल भर को सादा दिल भी फ़रेब की मंशा नहीं पहचान पाते। जो सच्चाई समझ बैठते हैं इसको उनके साथ धोखा होता है। हाँ उनके साथ भी। पर फिर सच अपने ज़ख़्मों के साथ, टपकते लहू की गवाही लेकर खड़ा होता है। 'अनल-हक़ अनल-हक़।' आज ज़माना मंसूर को यूँ सूली पर नहीं चढ़ाता। नए दौर का मंसूर फ़रेब का दामन सरे बाज़ार चाक-चाक कर देता है। और सादा दिल इसका तमाशा देखने के बाद ही हक़ीक़त तसलीम करते हैं।

‘जब जुल्म-ओ-सितम के कोह-ए गिरां रूई की तरह उड़ जायेंगे... लाज़िम है कि हम भी देखेंगे।’

—2 दिसम्बर 2013

●

ख़ुदाओं का सैलाब उमड़ पड़ा। हर ख़ुदा अपने फ़रिश्तों के साथ दरबार लगाये बैठा था। उन्होंने अपने-अपने कोतवाल बहाल किये। हर तरफ नए नए कोतवाल-ए-शहर नज़र आने लगे। सबको एक ही काम सौंपा गया कि एक जिस्म है उस पर शुबहा है कि वह ज़िंदा है या मुर्दा। जिस्म को तलाशने सारे कोतवाल निकल पड़े। हर कोतवाल एक एक जिस्म लेकर हाज़िर हुआ। बड़ी मुश्किल आन पड़ी ख़ुदाओं पर कि कौन सा जिस्म है जिस पर शुबहा है कि वह ज़िंदा है या मुर्दा। सारे ख़ुदाओं ने समझौता किया कि अपनी जंग हम बाद में लड़ेंगे पहले जिस्म की सही शिनाख़्त ज़रूरी है। लिहाज़ा कोतवालों को हुक्म हुआ कि फ़ौरन शिनाख़्त का काम अंजाम दें। सारे जिस्मों पर मुक़दमे ख़ुद कोतवालों ने किये। एक को छोड़ बाकि सारे जिस्म को शुबहे के दायरे से बाहर कर उनको बाक्रायदा ज़िंदा पाया गया। ख़ुदाओं ने जिस्म पर मुक़दमा नहीं किया बल्कि तय कर लिया कि इसे मुर्दा ही मान लेना चाहिए। हालात का तक्राज़ा है कि अगर शुबहा हो तो

शुबहा मिटा देना ज़रूरी है। यही कानून खुदाओं का है और अब ज़मीन पर हर अदालत यही करती है। इस जिस्म को दफ़न कर शुबहे से नजात पाना ज़रूरी है वरना आसमानी और ज़मीनी दोनों अदालतों की तौहीन होगी, इन्साफ़ दम तोड़ देगा, खुदा बदनाम हो जायेंगे। लिहाज़ा जिस्म को खबर दिए बिना उसे दफ़न करने का हुक्म जारी हो गया। जिस्म का जनाज़ा क़ब्रगाह की तरफ जा रहा था मगर जिस्म को सवाल करने की इजाज़त नहीं थी कि तुम कहाँ ले जाये जा रहे हो। जनाज़े में शरीक हर चेहरा अनजान था मगर थे लातादात चेहरे। आखिर जनाज़ा क़ब्रगाह में उतारा गया। एक खुली क़ब्र तैयार थी। अचानक शोर बुलंद हुआ दूसरी क़ब्रों से हमें खून की रवानी की बू आ रही है। हमारे शहर-ए-ख़ामोशां में चल रही साँसों से हमें खतरा है अपने अमन-चैन के लिए। एक बार फिर खुदाओं ने हमारे साथ साज़िश रची है। अचानक खुली हुई क़ब्र का मुंह बंद हुआ और आवाज़ गूँजी 'अनल-हक़ अनल-हक़' शायद इशारा था शहर-ए-ख़ामोशां के बाशिंदों के लिए। जवाब आया हमने 'अनल-हक़' की किताब से खुदाओं का नाम हटा कर उन्हें मुजरिम करार दिया है। याद रहे तुम जो जिंदा कहलाते हो उनको इन खुदाओं से डर है और इन खुदाओं को हम बेचेहरा, क़ब्रों में पड़े हम बाशिंदों से। एक जुर्म, एक गुनाह और सामने है इन खुदाओं का। दुनियाभर की क़ब्रगाहों के गुनाहगार ज़मीनी और आसमानी खुदा हमारी अदालत से फ़रार है, अचानक शहर-ख़ामोशां से सारे चेहरे जिस्म को छोड़ कर गायब होने लगे। अचानक काफ़का का 'के' 'मुक़दमें' का हलफ़नामा लिए क़ब्रगाह में वारिद हुआ... के. और के...मुक़दमा शुरू हुआ शहर-ए-ख़ामोशां में खुदाओं के खिलाफ़।

—5 दिसम्बर, 2013



अक्सर ऐसा वक़्त आता है जब आप खुद और सिर्फ़ अपने साथ होना चाहते हैं। सारी रौशनी बंद करके अँधेरे में खुद की तस्वीर साफ़ तौर देख सकते हैं। आईने की तरह। इस तन्हाई और अँधेरे में दूसरों की सच्चाई और फ़रेब दोनों की परतें उतारते हैं। मुस्कुराते हैं और दुखी भी होते हैं। मुखौंटे देखते हैं अपने भी और दुनिया के भी। झूठ की गुंजाइश रहने ही नहीं देती तन्हाई। और अँधेरा आपको रौशनी दिखाता है। राह बताता है। ऐसे में आप कोई दखल नहीं चाहते। ऐसे में मेहरबान आवाज़ भी आप की निजता और तन्हाई में दखलअंदाज़ी करती है। और मेहरबान आवाज़ जब आपसे आपकी निजता और तन्हाई छीनने की कोशिश करे

तो उस से बड़ी दुश्मन कोई नहीं होती। मेरी तन्हाई और अँधेरे का साथ मुझे रौशनी भी देता है और सच की, झूठ की परते उतारने में मदद भी। जिंदगी चकाचौंध रौशनी और भीड़ में साफ़ नज़र नहीं आती। जिंदगी और उसकी सच्चाई नज़र आती है फैले अंधेरों की खामोशी में और तन्हाई की आवाज़ में।

—14 दिसंबर, 2013

वक्रत और हम

‘अंत कहाँ है बेआवाज़ सिसकियों का.

खामोशी मुरझाते फूलों के गिरने का

दर्द की रफ़्तार का जो तकलीफ़देह भी नहीं और ठहरा हुआ है’

—T.S.Eliot

कल रात वक्रत मेरे साथ ठहरा। रफ़ता-रफ़ता मुझे नींद ने दबोच लिया। पर वक्रत मुझे झिंझोड़ता रहा। सूखे कुओं की गहराई में डुबोता रहा।

जानता हूँ वक्रत पलकें झपकाता है लम्हों में। सोता नहीं। प्रहरी है। साक्षी है। कब विशालकाय पर्वतों ने आँखें खोली। धरती कब डोली। किलकारी ने ज़मीन पर क्रदम कब रखा। बंजारे का लंबा सफ़र कब पूरा हुआ। वक्रत साक्षी है। अतीत और वर्तमान की तहरीर। मुस्तकबिल की दस्तक की दलील। वक्रत लम्हों में टंगा लाईट इयर्स का इतिहास। आसमान से हज़ारों साल तक बरसने वाले समुन्दर का इतिहास। समंदर के आकाश छूने का इतिहास। जो सांस अभी रुकी उसका गवाह। पर वक्रत ठहर जाता है कभी-कभी। रात जब मेरे साथ था, कुछ सर्द सा, कुछ तपता हुआ भी। ठहर गया था। वक्रत ठहरता है। हमारे ज़ेहन में। रगों में। खून में। यादों में। गया वक्रत आता है वापस। आह में। सिसकियों में। आंसुओं में। हम वक्रत को छोड़ देते हैं। वक्रत हमें नहीं। कब्रिस्तानों में जो जम गया वो वक्रत ही है। जिस्म पर घिनौने स्पर्श की चिपचिपाहट। जो घिस-घिस कर, खाल उतरने पर भी नहीं जाती। ठहरा हुआ वक्रत है ज़ेहन में। पहला बोसा। जो आज भी सिहरन पैदा करता है। वक्रत है। वक्रत मरता नहीं। गुज़र कर भी मौजूद रहता है। हम में। सब में।

यादों का कारवां

मैं एक धार्मिक परिवार में पैदा हुआ। जाहिर है बिना अपनी मर्जी उसी धर्म में ढाल लिया गया।

नास्तिक तो बाद में बना।

मुझे बताया गया कि मेरे पिता के मरने पर (मैं तब कुछ महीनों का था) बड़ी तादाद में क़ब्रिस्तान में हिंदू आये थे और जब जनाज़े की नमाज़ हुई तो हिंदू क्रतार के पीछे खड़े रहे। मेरे पिता के एक दोस्त थे हज़ारी चचा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से ताल्लुक था उनका। मुझे याद है वह हमेशा आते थे। दरवाज़े से आवाज़ लगाते थे और मेरी दादी उनसे बातें करती थी। कभी-कभी हज़ारी चचा उनकी फटकार सुनते थे। शायद उस पर खुश भी होते थे जैसे अपनी माँ की फटकार खायी हो।

मेरी दादी मुझे नियम से रामलीला देखने किसी बड़े के साथ भेजती थी। मगर किसी से पूछ लेती थीं कि आज शाम कौन सा 'खेल' है। कभी कहती मत जाओ मज़ा नहीं आएगा। जैसे भरत मिलन पर। कहती मैं कहानी सुना देती हूँ। दादी की धाक भी थी। चटाई के साथ जब मैं रामलीला देखने जाता तो मुझे आगे जगह मिल जाती थी। हाँ एक बात बुरी लगती थी कि भेजने के पहले मुझे दादी पहले ही सारी कहानी बता कर मज़ा खराब कर देती थी।

होली पर पूरा जुलूस निकलता मेरे दरवाज़े के सामने से। मैंने सुना नहीं कभी कि किसी मुस्लिम पर रंग की एक बूँद भी डाली गयी हो। (आज होली मेरा सबसे प्रिय त्योहार है)

मुह्रम के जुलूस में हिंदू-मुस्लिम शिया-सुन्नी में कोई फ़र्क नहीं था।

मेरे कस्बे में एक भी वहाबी नहीं था।

(पहली क्रिस्त—30 सितंबर, 2013)



मेरी एक रिश्तेदार थीं। बिलकुल अनपढ़। हमारे कस्बे से चार किलोमीटर दूर उनका घर था। जाने कैसे विक्षिप्त हो गयी थीं। अच्छा ख़ासा बड़ा घर था। खेती। नौजवान बेटे। कोई कमी नहीं थी लेकिन दिमाग़ फिर गया। बस एक दिन मेरे घर पहुँच गयी। तब तक इनकी दिमागी हालत का अंदाज़ा सबको हो चुका था। उनके पीछे-पीछे उनका बेटा हुसैन चलता हुआ आया कि जा कहॉ रही हैं। उसे इत्मीनान हुआ जब उसने अपनी माँ को मेरे घर घुसते देखा। हर रोज़ मेरे घर उनकी ख़ैरियत लेने उनके गांव के हिंदू आते, बेटे कम ही आते। उनको इत्मीनान था की सुरक्षित हैं उनकी माँ। पर

हिंदू उनकी बड़ी क्रूर करते थे। वजह मुझे तब समझ नहीं आयी थी लेकिन आज समझ आती है।

दो दिन के अंदर मेरे घर में 'तीजन बाई' से भी आगे बढ़कर कथा वाचन शुरू हुआ। महाभारत का पूरा मंचन। अकेले। वह कभी अर्जुन बनतीं तो कभी भीम। कृष्ण बनकर लीला करने लगतीं। हर रोज आधा घंटा पैंतालीस मिनट ऐसा होता। जिंदगी का पहला ऐसा तजुर्बा था। रामलीला भी ऐसी न देखी थी। ताल ठोंक कर दुर्योधन की तरह भीम को ललकारना आज भी नहीं भूला। द्रौपदी बन कर साड़ी खिंचवाते हुए घूमते हुए एक बार चक्कर खा कर गिरना आज भी याद है। मैं रात का इन्तेज़ार करता। कहने पर कभी वह कुछ भी न सुनाती। अचानक उठकर खुद शुरू हो जाती। कब कहाँ उन्होंने यह सब सीखा होगा मुझे पता नहीं। पर महाभारत से पहली बार रूबरू उनकी वजह से हुआ।

किसी मुस्लिम के घर महाभारत का जिंदा मंचन ...सब खुश।

(दूसरी क्रिस्त—1 अक्टूबर, 2013)



शुक्ला जी की केराना की दूकान थी। ठीक बगल में बच्चू लाल की भी केराना की ही दूकान थी। पटती नहीं थी दोनों की शायद दुकानदारी को लेकर।

सातवीं क्लास तक आते-आते मुझे पूरा यकीन हो गया था कि मैं गणित में कभी पास नहीं हो सकता। (पीएच.डी. कर ली मगर कभी गणित में पास नहीं हुआ। दसवीं में एक नंबर ग्रेस मिला तो ग्यारवीं में गया) मास्टर साहब हर रोज मुझे तालाब से बेहया के हरे डंडे तोड़ कर लाने को बोलते और फिर पूछते मोटे से शुरू करूं या पतले से। फिर खुद ही तय कर लेते। आखिरकार उनकी क्लास के समय मैं स्कूल से भाग जाता। ऐसे ही एक दिन भाग कर दो लोगों का बाग में चल रहा ताश का खेल देख रहा था कि पीछे से किसी ने कान पकड़ा। देखा तो मोती भाई घूर रहे थे। 'एही पढ़ाई होत ही। चलव अबहिन बताईत है।' डांटते हुए घर तक लाए। 'बाजी, देख लेव घर का नाम रोसन होई रहा है।' पता नहीं यह लोग मेरी माँ को बाजी क्यों कहते थे। कहना था तो भाभी कहते मगर बाजी ही सुना। अम्मी दरवाजे तक आयीं। ओट से बोली 'को है' 'मोती बाजी। स्कूल छोड़ के बाग मा पत्ता खेलत रहे पकड़ के ली आये हन' जम कर धुलाई हुई। इस से अच्छा था मास्टर से पिट जाते। मगर मोती भाई की चिंता आज समझ आती है।

शुक्ला जी को अपनी मूर्छें बड़ी प्यारी थीं। सिर्फ मैं था जिसे शौक था उनकी मूर्छों से खेलने का। वनाँ किसकी हिम्मत जो छू दे। लोग ताज्जुब करते

कि शुक्ला जी क्यों इजाजत देते हैं मुझे। पर रोका कभी नहीं उन्होंने। पता नहीं क्यों। उसी दौरान एक दिन शुक्ला जी सर्दी की धूप का मज्जा ले रहे थे। चबूतरे पर बैठे हुए। दूकान पर बेटा बनवारी बैठा था। मैंने पूछ लिया सुकुल बाबा 'अबू हमार कईसे रहेन।' शुक्ला जी की गर्दन मेरी तरफ घूमी और देखते-देखते आँखें डबडबा गयीं। याद आता है कि वह पैर के अंगूठे से मिट्टी कुरेदने लगे। मैं कुछ नहीं समझा। अपनी दूकान से फ़ौरन उतर कर बच्चू लाल आये। पास बैठ गए। मैं बिलकुल नहीं समझ पा रहा था कि हुआ क्या। पहले तो बच्चू लाल ने शुक्ला जी के कंधे पर हाथ रखा पर कुछ बोले नहीं। अब तक शुक्ला जी रो रहे थे। मैं घबराया था कि मुझसे ज़रूर कोई बड़ी भूल हुई। एक नाम भूल गया उनका जो साथ आकर बैठे। मुस्लिम थे। बच्चू लाल और उन्होंने मिलकर मुझे समझाया कि तुम्हारे अबू बहुत अच्छे थे। मेरे सर पर हाथ फेरा गया। फिर गन्दी सी गाली देकर बोले... 'बज्यैय्या।' कुछ न समझा मैं। (बाद में पता चला कि मेरे कस्बे के कॉलेज में कोई बाजपेयी प्रिंसिपल था जिसने मेरे पिता की नौकरी नहीं लगने दी थी साम्प्रदायिक आधार पर) अजीब सा लगा मुझे सब कुछ। इधर शुक्ला जी शांत हो चुके थे। मोती भाई, वही मोती भाई ...बच्चू लाल के बेटे आये बोले 'सुना है सिगरेट पिये लगे हो। बताय देई बाजी का।' और हंस दिए। बोले 'मज्जाक कर रहा था।' जान में जान आयी। ज़रा पीछे मुड कर देखने पर लगता है। कैसा रिश्ता था यह। किसने बर्बाद किया।

मेरे कस्बे में एक भी...

(तीसरी क्रिस्त—2 अक्टूबर, 2013)



हर याद में जख्म महकें ज़रूरी नहीं, कुछ फूल भी तो अपनी खुशबू बिखेरें। तो साहब कुछ यारों का क्रिस्सा। जो धर्म और जाति की सीमाएं पार कर गए। हमारे कस्बे में सैय्यद आज भी खुद को दिमागी तौर पर ज़मींदार मानते हैं। सादात सैय्यद। भूमिहीन ज़मींदार। मानसिकता एकदम बकौल मीर

'फिरते हैं मीर ख़्वाब कोई पूछता नहीं

इस आशिकी में इज़्ज़त-ए-सादात भी गयी'

मगर उन्हीं में से एक विद्रोही निकले छुट्टन साहब। छुट्टन साहब शायद पहले शख्स रहे होंगे जिन्होंने मयनोशी की अज़मत समझी और उसको दरकार इज़्ज़त अता की। अजीब शख्स थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि एहतेशाम नाम का हमारा पड़ोसी किरासिन लेकर घर आ रहा था। एक रुपया चार आने की बोटल। सामने

छुट्टन चचा दिख गए। मजाक में कह दिया चचा यह पी जाओ तो एक रुपया दूंगा। छुट्टन चचा ने एक सांस में बोटल खाली कर दी और एक रुपया माँगा। बेचारा एहतेशाम ज़ार क्रतार रोने लगा। घर को क्या जवाब दे और एक रुपया कहाँ से लाए। पर छुट्टन चचा ने एक रुपया माफ़ कर दिया। नहीं याद कि किरोसिन ने पेट में कैसी रौशनी फैलाई पर एहतेशाम के घर लालटेन न जली उस रात।

एक दिन छुट्टन चचा को इमामबाड़े में क्रसम खिलाई गयी कि मयनोशी से तौबा कर लें। जो साहबान बात थी इमाम की। कर ली तौबा।

अब शुरू हुआ याराना। छुट्टन चचा का रामखेलावन से (यह नाम... शायद यही था) रामखेलावन अपने गधे के बिना घर से नहीं निकलते थे। कपड़े लादते उस पर काम के वक्रत और खुद लदते जब गधे की पीठ खाली मिले। जनाब क्या जोड़ी बनी... इसमें एक नव उम्र लड़का भी शामिल हुआ, झल्लर। दौर शुरू हुआ चिलम का। गांजा उस वक्रत खुले आम मिलता था। सरकारी बंदिश न थी। छुट्टन चचा पर फिर कुफ़्र का मुक़द्दमा चला। मगर साहब छुट्टन चचा का जेहन। बोले मैं धुआंधार गोली चलाता हूँ मयनोशी नहीं करता। दिखाओ कहाँ लिखा है कि गांजा पीना हराम है? धुआंधार गोली नहीं रुक सकती। अब उनको उनके हाल पर छोड़ दिया गया। अब एक रोज़ छुट्टन चचा, राम खेलावन और झल्लर धुआंधार गोली चला रहे थे कि कोई 'नामाकूल' जो राम खेलावन का रिश्तेदार था शायद। दखलअंदाजी कर बैठा। छुट्टन चचा के पास उस वक्रत बोरा सीने वाला सूजा था। सिलाई की जगह सूजा 'नामाकूल' के एक कान का पर्दा फाड़ गया। बड़ा हंगामा किया उसने। लो जी इसे सांप्रदायिक रंग मिलने लगा। माहौल गरमाया। मगर राम खेलावन और झल्लर ने सोचा ठन्डे दिमाग से। खुले आम एलान किया कि छुट्टन चचा के हाथों नहीं धोखे से राम खेलावन के हाथों यह काम हुआ। झल्लर बना गवाह। 'नामाकूल' पर नशेड़ी होने का इलज़ाम लगाया राम खेलावन ने और कहा कि नशे में यह भूल गया है। 'नामाकूल' लाख सही बोले पर कौन यक्रीन करे। मामला वहीं खत्म हो गया।

(चौथी क्रिस्त—3 अक्टूबर, 2013)



पता नहीं ज़ख्म कुरेद रहा हूँ या सूखे गुलिस्ताँ को शबनम से सैराब कर रहा हूँ। अक्सर आंसू में खुशी छिपी होती है। जानता हूँ। पर यादें सुहानी हैं या गमगीन इसका फ़र्क न समझ पाने का एहसास पहली बार हो रहा है। यादों पर जमी वक्रत की परत हटाते हुए मुझे क्या दिख रहा है इसका अंदाज़ा नहीं हो रहा।

यह बूदें जो टपक रही हैं इनमें रंग फूल के हैं या लहू के, मेरी समझ से बाहर हैं। पर किस्सागो इस उतार-चढ़ाव से गुज़रेगा ही इतना कह कर तसल्ली करता हूँ।

कृपाल मामा की यादें धुंधली पड़ रही हैं। बस ज़रा ही याद आया। हमारे कस्बे के न थे कृपाल मामा। मेरे नाना के चाहने वालों में थे। मेरे नाना का गांव हमारे कस्बे से पांच किलोमीटर था। पर जबसे होश संभाला कृपाल मामा को लगातार अपने घर आते देखा। इतना तो मेरे सगे मामा भी घर न आते। मेरे खयाल से उनसे पर्दा कोई नहीं करता था। मामला नाजुक था। एक दर्द था कृपाल मामा के दिल में। चंदा के 26-27 साल की उम्र में विधवा हो जाने का। चंदा मेरी माँ का नाम था। मेरे नाना ने मेरे पिता के मरने के बाद फ़ौरन एक काम किया। जितने खेत थे उनके, उसका एक हिस्सा अलग किया और बेटों से कहा कि इन खेतों की पैदावार का एक दाना मत छूना। सारा चंदा को जायेगा। तो साहब दाना तो छोड़िये। अरहर के पौधे... नहीं मैं उनको पेड़ मानता हूँ। उसके तने की लकड़ियाँ बड़ी मोटी होती हैं सो जलाने के काम भी आती हैं। पुआल धान के खेत की। सब बैलगाड़ियों पर लाद कर मेरे मामाओं को भेजना पड़ता था। हाँ बहुत साल बाद पता चला कि एक सगे मामा को कितना बुरा लगता था यह सब। खैर वह किस्सा दीगर। बात है कृपाल मामा की। गमछा लाठी उनका ट्रेड मार्क। बैलगाड़ी पर सामान आता तो अपनी निगरानी में उतरवा कर कहाँ क्या रखा जाना है सुनिश्चित करते। किसी का दखल याद नहीं मुझे। कृपाल मामा थे तो उसी सामंती सोच की पैदावार जो आज भी नज़र आती है। बहन बेटियों का नाम न लेना। बात करना तो चेहरा दूसरी तरफ़ घुमा कर जैसे दीवार से बात कर रहे हों। मुझे उनके साथ खेलने का ऐसा हक़ था कि सर पर नगाड़ा बजाऊँ या पीठ पर चढ़ूँ। गाल खींचूँ या गुदगुदी करूँ। और जब न करूँ तो परेशान हो जाते। तबियत पूछने लगते। उनको एक ख़ब्त था। एक ही बात इतनी बार दुहराई उन्होंने मुझसे कि मुझे एम.ए. का मतलब सोलह दर्ज़ा तक पढ़ाई करना मालूम हो गया। 'जानत हौ, तुम्हार अब्बू के अलावा कोऊ एम.ए. तक नहीं पढ़ीस पूरे इलाके मा। जानेव तुमहूँ ऐसे कम न पढेव। इलिम सबसे बड़ी दौलत है। हमारे तरह न रही जायेव।' फिर हँसते। बाद में मुझे सोलह तक पढ़ने के नाम से डर लगने लगा। मगर उनकी आदत न गयी। फिर कृपाल मामा अचानक गायब हो गए। और हमें देखिये कि हमें होश नहीं न परवाह कि क्यों नहीं आते कृपाल मामा। ननिहाल जाकर पता चला कि न रहे कृपाल मामा। फिर। फिर पता नहीं। पर आज कृपाल मामा बहुत याद आ रहे हैं। बेहद।

(पाँचवी क्रिस्त—4 अक्टूबर, 2013)

पाँचवी कड़ी पर मित्रों ने कहा कि रुला दिया। इस कड़ी में ऐसा नहीं होगा। और हम भी नहीं इस कड़ी में। तो यारो यह अजीब क्रस्बा है। यहाँ आबादी का अनुपात कुछ यूँ है कि आधे मुस्लिम आधे हिंदू। हिंदू में लगभग आधे क्रस्बे के पहिले हुए और आधे दक्षिण की ओर। मुस्लिम आबादी में लगभग 55 प्रतिशत शिया और बाकी सुन्नी। शिया घोर सामंती मिजाज के। 1857 के बाद सब कुछ लुटा बैठे। ज़मींदारी गयी। मगर मिजाज न बदला। सो घर में जैसी भी हालत हो कहलायेंगे मीर साहब। जी हाँ। यह सय्यद साहब मीर साहब ही कहलाते हैं यहाँ। आज तक। ज़रा हिमाक़त देखिये। यहाँ के सब से ज़्यादा कट्टर लोग एक ही मोहल्ले में बसते हैं। कौन नहीं जानता कि कट्टर लोग खुद को दूसरे से ज़्यादा 'पवित्र' और श्रेष्ठ मानते हैं जबकि असलियत ठीक उलटी होती है। एक नंबर के कमीने होते हैं। इनके मोहल्ले का नाम था तेलियापर। तेलियापर इसलिए कि यहाँ एक तालाब है। उसके पानी की सतह हमेशा चिकनी होती है जैसे पूरे तालाब में तेल उंडेल दिया गया हो। सूखने के बाद बरसात में कितना भी पानी भर जाए फ़ौरन पानी तेल की एक परत ऊपर फेंक देता है। तो साहबान इन 'पवित्र' और 'श्रेष्ठतम कमीनो' ने एक दिन अपने मोहल्ले का नाम बदल दिया। नया नाम शरीफ़ाबाद। अंदाज़ा लगा सकते हैं कितने कमीने होंगे। ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि अभी इनका यह रूप देखने वाला है। एक ख़ातून थीं जिनका नाम था ज़ैतून। ज़ैतून थीं पैदाइशी सुन्नी लेकिन हमेशा सोहबत पायी शिया महिलाओं की। आख़िर एक दिन उन्होंने शिया हो जाने का एलान किया। कुछ साल बाद वह न रही। अब उनको दफ़नाया कहाँ जाए। शिया क्रब्रिस्तान में या सुन्नी क्रब्रिस्तान में। सुन्नियों ने कहा जब वह शिया हो गयी थीं तो उनको वहीं दफ़नाया जाए। सो साहबान क्रब्र तैयार हो गयी शिया क्रब्रिस्तान में। अचानक शरीफ़ाबाद के 'श्रेष्ठतम कमीनो' का हुजूम आ पहुँचा। ऐतराज़ था उनको कि सादात शिया नहीं थीं ज़ैतून। कोई ग़ैर सय्यद यहाँ कैसे दफ़न हो सकती है। बहस छिड़ गयी। रिश्तेदारों ने कहा ठीक है हम इनको सुन्नी क्रब्रिस्तान ले चलते हैं। अब आयी बारी असली शरीफ़ों की जो शरीफ़ाबादी नहीं थे। 'बा-ज़बान-ए अवधी' निहायत शरीफ़ाना कलमात और जुमलों की बरसात शुरू हुई। इतनी मूसलाधार कि सारे शरीफ़ाबादी 'श्रेष्ठतम कमीनो' का हुजूम ग़ैर शरीफ़ाबादी 'बा-ज़बान-ए अवधी' के कलमात और जुमलों में डूब गया। ज़ैतून दफ़नाई गयीं उसी क्रब्र में पूरी शिया रस्मों के साथ।

(छठी क्रिस्त—5 अक्टूबर, 2013)

●

*‘यूँ तो नगमे भी हैं आंसू भी हैं इस झोली में
नगमे आंसू में ढलें, बस में नहीं, क्या कीजे’*

तो क्रद्रदानों, सोचा तो था सिलसिलेवार, मगर सोच ने लंबी छलांग लगा ली। अब क्रिस्सागो भी क्या करे कि माहौल में खून की बू फैली है। खूनी लश्कर आ निकले हैं सियासी शतरंज की बाज़ी के साथ। शिविरों से रोने की सदाएं आती हैं मगर कानों तक नहीं पहुँचती। दिल मसोस कर वापस जाती हैं। जवान, मुफलिस जिस्म नोचे गए मगर उन्हें जिस्म के गहरे ज़ख्म दबाने हैं और दिल का दर्द छिपाना है कि माँ बाप ने उनकी शादी के ख़्वाब देख रखें हैं। हर-हर महादेव और नारा-ए-तकबीर की बुलंद आवाजों में दबी होगी दोशीज़ा की चीख जब एक के बाद एक बदकार घिनौने बदन मासूम जिस्म को मसल रहे होंगे। क्रिस्सागो ज़ब्बात का शिकार हो रहा है रुकना होगा उसे।

मगर ख़्वातीन-ओ-हज़रात क्रिस्सागो रात ही बहक गया था। तस्वीर उभर आयी थी उसी क्रयामत की जब 1993 में खूनी लश्कर पूरे मुल्क में अपने खुदा साथ लिए, उसे काँधे पर बिठाये और हाथों में त्रिशूल और तलवार लिए हिन्दुस्तान के गोशे-गोशे में नारे बुलंद कर रहे थे। खंजर को इजाज़त थी कि जो सीना तुम्हारे समुदाय का न हो उसमे बेख़ौफ़ उतर जाना। गर्म लहू जो सीने से निकलेगा वह गवाही देगा कि तुमने धर्म निभाया। क्रिस्सागो भी गवाह है एक हादसे का। हुआ यूँ कि क्रिस्सागो का सगा मौसेरा अठारह-उन्तीस साल का भाई था। अरशद। उसका क्रल्ल हुआ। आज भी क्रिस्सागो मानना चाहता है कि गांव की जाती, निजी, आपसी दुश्मनी भी हो सकती है। क्या पता? मगर बात माहौल की है। ख़ैर लाश मिली अगले रोज़ खेत में। किसी बड़े धारदार असलहे ने सर से खून पिया था। उस वक़्त पुलिस भी श्रीराम को कलेजे से लगा बैठी थी। थाने पर हनुमान जी की इज़्जत बेपनाह है हमारे मुल्क में लेकिन इस बार उस्ताद ने शागिर्द को मात दे दी थी। ख़ैर रिपोर्ट लिखाना मुहाल। ऐसे में एक शख्स वारिद हुआ। सीना तान कर खड़ा था पुलिस वालों के सामने। गांव का एक बनिया। धार्मिक बनिया जो अभी तक जय सियाराम के दायरे से निकला न था। उसने श्रीराम के लिए अभी भी सिया का गला नहीं घोटा था। बोला “मैं गवाह हूँ कि किसने क्रल्ल किया। खून में लतफत यह लड़के दो बजे रात मेरी दूकान पर आये कुझे नींद से जगाया। मैं हैरान। उन्होंने धमकी दी। और मेरी दूकान से कपड़े धोने का पाउडर और साबुन ले गए।” क्रिस्सा मुख्तसर करता हूँ यूँ कि फैसला हुआ

नहीं यह मसला नहीं है। पर वहशी माहौल में भी इंसानियत ने जय श्रीराम और नारा-ए-तकबीर को नेपथ्य में डालते हुए इंसानियत जिंदाबाद की तख्ती लगा दी।

(सातवीं क्रिस्त—6 अक्टूबर, 2013)



क्रस्बे के दो पसमांदा हिस्से। हिंदू और मुसलमान।

क्रिस्सागो आगे बढ़ जाता है पर यादों के तहखाने से कोई आवाज़ उसे वापस बुला लेती है। 'अजब दयार था वह जिस नगर से मैं निकला' कि देखो तो यहाँ का नज़ारा। जब दो चार किलोमीटर की दूरी पर दलित जुल्म की सियाह राहों से हर रोज गुज़र रहे थे। आये दिन ख़बरें ऐसी आती थीं कि कान आदी होकर ख़बरों को अनसुना कर देते थे। कुछ खुश होते कुछ बेपरवाह। या लापरवाह। पर इस क्रस्बे में अजब आलम। क्रिस्सागो कह चुका है कि किस तरह सादात सय्यद मीर साहब कहलाते थे और पसमांदा मुस्लिम उनके सामने दबे रहते थे और जुल्म भी सहते थे। जिन्होंने शरीफ़ाबाद के 'श्रेष्ठतम कमीनों' का ज़िक्र पढ़ा है उनको याद होगा। रस्सी गयी बल न गया। यह अभी 1857 से पहले के दौर में जी रहे थे। और उसी दौर के जुल्म-ओ-सितम आस-पास गांव के दलित सह रहे थे। पर इस कस्बे में दक्खिन टोला भी था। दलितों की बस्तियां दक्षिण से फैलती हुई पश्चिम इलाके में दाखिल हो गयीं। और सवर्णों के पक्के मकानों के सामने इनके कच्चे मकान तैयार होने लगे। तब मुझे अंदाज़ा नहीं था कि इसमें कुछ अनहोनी है। अनहोनी तो तब लगती जब कोई हंगामा बरपा होता। एक मोहल्ला था हिंगुई पर। अब टाउन एरिया बनने के बाद नाम बदल गया होगा। इस मोहल्ले में तेल पेरने की चक्की थी। वहीं हम सरसों लेकर जाते और तेल और खली लेकर वापस आते। इसी मोहल्ले की याद है। सवर्ण घर, दलित घर (सारे पासी समुदाय के लोग) और मुस्लिम घर साथ साथ। जब तक मैं गांव में रहा जाति के आधार पर या धर्म के आधार पर फ़साद के एक भी किस्से का गवाह नहीं। खेतों पर काम करना मजबूरी थी आर्थिक तंगी की वजह से लेकिन पसमांदा मुस्लिम भी साथ-साथ काम करते थे। और हाँ 'रस्सी गयी बल न गया। यह अभी 1857 से पहले के दौर में जी रहे थे।' 'मीर साहबान' सादात सय्यद!!! 'फिरते हैं मीर ख़्बार कोई पूछता नहीं/ इस आशिक़ी में इज़्ज़त-ए-सादात भी गयी।' गोकि बात रुख़ बदल देगी मगर यहाँ आ ही गया याद क्रिस्सा हज़रत ग़ालिब का। तो जनाब उस्ताद के पैर में दर्द था। पास बैठे थे मीर महदी। बोले

मिर्जा मैं पांव दबा देता हूँ। उस्ताद ने फ़रमाया 'क्यों गुनाह लादता है मुझ पर तू यार मीर। मिर्जा के पांव दबाएगा। मीर महदी ने कहा। मैं पांव दबा देता हूँ आप उजरत (मेहनताना) दे दीजियेगा। खैर! पांव दबाने के बाद मीर महदी ने कहा मिर्जा मेरी उजरत? उस्ताद बोले कैसी उजरत। तूने मेरे पांव दाबे मैंने तेरे पैसे। हिसाब बराबर।

मगर हमारे क्रस्बे के मीर साहबान हॉ ख़वातीन-ओ-हज़रात। एक इंच ज़मीन नहीं। ज़रिया नहीं कि चूल्हा अपनी पूरी तपिश से जले। कभी कई घरों में ठंडी राख होती चूल्हों में। मगर बड़े कुशादा घर जो खंडहर बन रहे थे कि मरम्मत का कोई सामान न था। घरों से निकलते तो शान से। तालीम इस क्रस्बे के खून में थी। मगर 'मीर साहबान' 'सादात सय्यद' शरीफ़ाबाद के 'श्रेष्ठतम कमीनो' ने दीनी तालीम का रास्ता पकड़ा और मस्जिदों में पनाह ली। इनको देखा मैंने छुआछूत करते। और इन्ही की तरह वैश्य समुदाय। इन दोनों को देखता हूँ आज मुड़कर तो क्रदम-क्रदम पर इनका जातिवाद क्रस्बे में जहर घोल सकता था। मगर ऐसा हुआ नहीं क्योंकि बड़ी तादाद इन बंदिशों से आज्ञाद थी। 'मीर साहबान' कहते 'का करी ओट साले धरम्विरवा का देईन पड़ी' धर्मवीर कांग्रेस के बड़े नेता थे जो पासी समुदाय से थे। उधर नाथूराम जनसंघ के उम्मीदवार। वैश्य अपनी ऐठन में बोलते 'ससुर धोबी का ओट दे पड़त है। करैय तो कोऊ का करैय।' अब सीट थी रिज़र्व बंधे थे हाथ पांव। ऐसा भी नहीं कि धर्मवीर ने कभी अपने समुदाय के लिए कुछ किया या उन पर जुल्म होता तो कोई मदद आती। आखिर आस-पास के गांव में हो ही रहा था पर हमारे क्रस्बे में कभी ऐसा नहीं हुआ।

(आठवीं क्रिस्त—8 अक्टूबर, 2013)



(सातवीं क्रिस्त में 1993 के पागलपन के दौर में मेरे भाई अरशद के क्रल्ल का जिक्र है। उसके बाद की आप बीती।)

क्रिस्सागो दिल्ली के दिल से निकल कर वापस जायेगा। उस क्रस्बे की तरफ जहाँ की दास्ताँ क्रलम से निकल रही है। दिल्ली के मुनिरका गांव में एक घर में चार लोग रहते थे। मैं, मेरी पत्नी, कुछ महीनों का मेरा बेटा और अमिताभ मिश्र। इसी दौरान आशीर्वाद देती हुई राम की तस्वीर जो कलेंडरों पर मुस्कुराती थी, उसके अचानक तेवर बदले। मुस्कान गायब और रौद्र रूप में राम ने धनुष उठा लिया। नहीं-नहीं। उठायी नहीं। उन्हें पकड़ा दिया गया था और समझाया गया था कि सिर्फ इसे पकड़ कर खड़े रहना, काम हम करेंगे। रथ पर राम लटके

मगर सवार हुए महात्मा आडवानी। क्रयामत की तैयारी शुरू हुई। चारों तरफ़ उमा भारती और साध्वी ऋतंभरा की हुंकार। तो हुआ यूँ कि हमारे पड़ोसी वकील साहब ने एक रोज़ कुछ यूँ हालात बनाये कि हमको रातों रात घर छोड़ना पड़ा।

क्रयामत आने वाली थी आयी न थी। यह तो दस्तक थी क्रयामत की। वक्रत गुजरा और ले गया अपने साथ 6 दिसंबर 1992। यह क्रयामत का एलान भर था। आयी अस्ल क्रयामत उसके बाद। 1993 में क्रयामत गली-गली कूचे-कूचे में रक्स करने लगी। इसी दौरान क़त्ल हुआ अरशद का जिसका ज़िक्र सातवीं क्रिस्त में है। क्रयामत के इस आलम में क्रिस्सागो फ़ौरन तैयार अपने क़स्बे जाने को। मगर उस हिंदू लड़की ने फ़ौरन कहा साथ तो मुझे भी चलना है। बहू ने कभी ससुराल देखा न था। या देखने दिया न गया था। अजीब वक्रत चुना ससुराल जाने का।

ख़्वातीन-ओ-हज़रात बेहद अजीब मुल्क है यह। इसी मुल्क में ख़ुद क्रिस्सागो ने 2002 में देखा अहमदाबाद में कि सड़क एक तरफ़ एक इंसान जला कर कोयला बनाया जा रहा है तो दूसरी ओर बाक्रायदा, इस ख़ौफ़नाक मंज़र से लापरवाह लोग ख़रीदारी कर रहे हैं। मगर उसी मुल्क ने देखा है कि नोवाखाली के फ़साद में लाशों के अंबार लगे तो एक बूढ़ा अकेले आवाज़ उठाने बैठ गया अपने जिस्म को खुराक से महरूम कर। इस मुल्क में ख़ून का दरिया बहा... बार-बार मगर कभी मुकम्मल अँधेरा नहीं छाया।

क़स्बे में पहुंचने पर हर निगाह उस हिंदू लड़की पर पड़ती और मेरी निगाह उन निगाहों में उनकी मंशा तलाश करती। मगर नज़रों में जानने की जुस्तजू ज़्यादा थी और गुस्सा तक्ररीबन न के बराबर। ग़म कितना ही दर्दअंगेज़ हो इंसान उसमें से कुछ लम्हात निकाल लेता है कुछ अलफ़ाज़ कहने को जो दर्द भरे न हों। ख़्वातीन-ओ-हज़रात मेरा तजुर्बा है कि यह काम सबसे पहले कमज़ोर मानी जाने वाली बहादुर औरतें करती हैं। लम्हात निकले। सरगोशियाँ हुईं। सर पर हाथ भी फेरे गए। दुआएँ भी मिलीं। बहू तमाम लोगों की तरह तीन दिन रह कर शहर आयी जहाँ से हमें दिल्ली वापस आना था। साथ आयी एक औरत जिसका नाम फ़ातिमा है मेरी मौसी। मैं छोटी ख़ाला कहता हूँ। सबसे छोटी सगी ख़ाला मेरी। वह सामान्य मुस्लिम पांच वक्रत की नमाज़ पढ़ने वाली महिला है। कोई बुद्धिजीवी नहीं। दिन में दो घंटे को ग़ायब हो गयी वह। फिर वापस आयी। जब वक्रत हुआ चलने का तो उन्होंने बहू से कहा 'ऐसे वक्रत आयी पहली बार कि कुछ दे न सके तुमको। फिर भी यह रख लो।' जो दिया उसी के लिए ग़ायब हुई थी।' दिल्ली वापस आकर तोहफ़ा खुला। एक डिबिया थी और उसके अंदर एक मंगल सूत्र...

‘उठाये शमआ-ए दिल कौन चला सूए दार
कोई फरिश्ता नहीं हजरत-ए-इंसान ही हैं।’

(नवीं क्रिस्त—9 अक्टूबर, 2013)

क्रिस्सागो बड़ा जज्बाती बनता आया है अभी तक... ज़रा अपने क्रस्बे की सेहत का बयाँ कर ले कि क्रस्बे में मर्ज़ का और लाइलाज मर्ज़ का भी इलाज कैसे होता था। एक थे डॉक्टर महबूब और दूसरे थे वैद्य जी। राग दरबारी के वैद्य जी की तरह नहीं कि गुप्त रोगों का इलाज गुप्त रूप से और प्रकट रोगों का इलाज प्रकट रूप से करते। हमारे क्रस्बे के वैद्य जी जो करते खुले आम बल्कि सरे आम करते। महबूब डॉक्टर भी बिलकुल वैसे ही थे। दोनों ने ही किसी मरीज़ का इलाज करने से इनकार कभी नहीं किया। अब केस जुकाम का हो या नासूर का। मरीज़ को शिफ़ा मिलने की उम्मीद न जताई तो डॉक्टर और वैद्य क्या हुए। ईमानदार इतने कि कभी मरीज़ों से झूठ नहीं बोलते थे। यानी कि ‘मुझ पर भरोसा रखो।’ कभी न कहते... ‘खुदा पर भरोसा रखो या भगवान पर भरोसा रखो।’ दोनों ने शायद अपने शिफ़ाख़ाने या दुकां कह लीजिए क्रस्बे के दो किनारों पर खोले हुए थे। मरीज़ किसी सूरत इनकी ज़द से निकल नहीं सकता था। एक किनारे की तरफ़ बसे गांव के लोग अपने महबूब डॉक्टर के पास जाते तो दूसरे किनारे से लगे गांव के लोग श्रद्धेय वैद्य जी के पास। कभी कोई खटास नहीं। दोनों में एक बात मुश्तरका थी। बिलकुल एक जैसी। मरीज़ के पेट में दवा जाए तो असर करने में देर न लगाए इसका इंतज़ाम दोनों पहले कर देते थे। यानी गोली हो या बूटी, हमेशा खरल में कूट पीस पुड़िया में बाँध कर देते। किसी मरीज़ को कभी अंदाज़ा न हुआ कि पुड़िया में है क्या। बस पीसी हुई कोई दवा होती। दोनों ही नुस्खे कभी नहीं लिखते थे। डॉक्टर महबूब और वैद्य जी में एक और पहलू भी यकसां था। दोनों के पास दो ही काम थे। अँधेरे मुंह उठकर खुदा की बारगाह में सर झुका देना या भगवान के चरणों की क्रदम बोसी करना और बाक़ी दिन खुदा के बन्दों की खिदमत में गुज़ारना। और दिन भर खुदा को याद करते रहना ‘खुदा पर भरोसा रखो या भगवान पर भरोसा रखो।’ जो खुदा और अल्लाह पर भरोसा दिखाते इस जहान-ए-फ़ानी से, नश्वर दुनिया से कूच कर जाते, उनके रिश्तेदार आराम से कह लेते खुदा या भगवान की यही मर्ज़ी थी। क्रिस्सागो की ज़बान जले अगर वह साफ़गोई से काम न ले। कभी किसी मरीज़ ने या उनके रिश्तेदारों ने कोई शिकायत नहीं। अब खवातीन-ओ-हज़रात जिस्म तो फ़ानी है। मौत का सामना सब को करना है तो एक वक़्त आया कि अज़ल का

फरिश्ता डॉक्टर और वैद्य जी तक आन पहुंचा। अब किसी न किसी को इंसानी खिदमत में जिंदगी निछावर करनी थी। डॉक्टर महबूब का बेटा जो हजार मसरूफियात की वजह से कभी स्कूल न जा सका था, उसने यह भारी बोझ अपने कंधे पर उठा लिया। झूठ बोलूं तो ज़बान को आग लगे। खुदा के बंदे उसी अक्रीदत से जाँ नशीन डॉक्टर के पास आने लगे। अजब समां बंधा उसके बाद। आबादी का दबाव और मरीजों की बढ़ती तादाद। तो क़द्रदानों कई लोगों ने खिदमत अंजाम देने के लिए सर पर कफ़न बाँध लिया। ज़रूरी था यह। क्योंकि आखिर मरीज़ को हमेशा याद रहे कि हर किसी का आखिरी लिबास यही है। और डॉक्टर साहबान तो बस राह दिखा रहे हैं। दूसरे डॉक्टर जो नमाज़ से वक़्त न निकाल पाने की वजह से पांचवीं दर्जा के बाद स्कूल छोड़ कर जिंदगी खुदा की खिदमत में गुज़ारने का फैसला ले चुके थे। अब खुदा की मख़लूक की खिदमत में आये। जाहिद नाम था हुजूर का। उनके नाम से जाहिर है कि परहेज़गार थे। इलाज के मामले में भी परहेज़ पर ज़्यादा जोर देते और महज़ दो दवाएं कूट कर देते। क्रोसिन और डिस्प्रिन। अचानक मैंने एक दिन अपने मोहल्ले के दो लोगों की बात सुनी आपस में। एक साहब दस्तख़त भी नहीं कर सकते थे और दूसरे पांचवीं में फेल होने से नाराज़ होकर अपनी सारी इनर्जी ताश के पत्तों में लगाते थे। दोनों एक दूसरे को डॉक्टर कहते हुए पाए गए। चार दिन बाद दोनों इंसानियत की खिदमत में लग गए।

(दसवीं क्रिस्त—10 अक्टूबर, 2013)



छपरा बाग़ दर्सगाह

क्रिस्सागो जाता है उस दर्सगाह की तरफ जिसको हम क्रस्बे में छपरा बाग़ कॉलेज कहते थे, था तो वह बारहवीं तक का स्कूल। यह कॉलेज ब-तर्ज़ छंगामल महाविद्यालय ही था फिर भी दर्सगाह इसलिए कहता हूँ कि कुछ न कुछ तो पाया। प्रिंसिपल साहब ज़रा अलग सामंती ज़ेहनियत के निहायत नामाकूल इंसान थे। और उनसे ज़्यादा नामाकूल हमें एक घंटा क्लास में बिठाकर कुछ ऐसा पढ़ाने वाले जिसका ताल्लुक हर उस चीज़ से था जिसे इल्म न कहा जा सके। क्रिस्सागो भी उसी स्कूल में 'इल्म' हासिल करने भेजा गया। ख़वातीन-ओ-हज़रात एहसास-ए-कमतरी बुरी चीज़ है। हमारा आज़ाद मुल्क ठहरा बर्तानवी हुकूमत की पैदाइश। छपरा बाग़ स्कूल लिखना ज़रा शर्मसार करता है। एहसास-ए-कमतरी पैदा करता है। अक्सर सोचता हूँ कि लोगों से कहूँ मैं सेंट छपरा बाग़ में पढता था। यहाँ कोई भी मास्टर कोई भी सब्जेक्ट पढ़ा सकता था। मसलन संस्कृत का मुदर्रिस छुट्टी पर

हो तो और कोई मौलवी साहब खाली बैठे हों तो प्रिंसिपल कह सकता था। 'जा बे उस क्लास में जा। बैठा गप लड़ा रहा है।' 'जी साहब'। जी हाँ सारे टीचर प्रिंसिपल को साहब बोलते थे। सारे क्लर्क टू-इन-वन थे। मसलन दसवीं पास हरिशंकर हमें आठवीं में मैथ्स पढाते थे। आधा घंटा हंसाते और उसके बाद कहते तुम लोग पढ़ते-लिखते नहीं हो लिहाज्जा सबको एक तरफ से डंडों से सज्जा देकर स्कूल का रजिस्टर देखने चले जाते। उनको मुझसे ख़ास मोहब्बत थी। एक रोज़ मुझसे पूछा तुम्हारे नाम का मतलब क्या है। मैंने कहा ख़ुशीद अनवर का मतलब सूरज का प्रकाश। कुछ सोचा उन्होंने। और अब सोच रहा हूँ मैं। वह क्या सोच रहे थे मालूम नहीं... मैं सोच रहा हूँ कि हाज़िर जवाब कैसे हुए वह उस वक़्त। कहने लगे 'तुम तो मुझे बरसात की अँधेरी रात मालूम होते हो' जनाब ख़ूब हंसी हुई। ख़वातीन-ओ-हज़रात क्रिस्सा गो एहसास-ए-कमतरी का ऐसा शिकार हुआ की आईने में अपना बदशक़ल चेहरा नहीं देखता था बहुत दिनों तक।

एक मुदर्रिस और थे जो क्या और कब पढ़ाते थे मुझे मालूम नहीं। पर अकेले थे जिनका ठिकाना स्कूल का ही एक कमरा था। बड़े भक्त किस्म के इंसान थे हज़ूर। पण्डित जी ही नाम था उनका क्योंकि ब्राह्मण थे। यही पहचान थी उनकी। मुझे लगता है उनका आधा दिन लोटा मांजने में जाता था। पीतल का चमचमाता लोटा। रात को उसी लोटे में पानी रख देते और सुबह पीते। हादसा हो गया जनाब एक बार। उस वक़्त मैं बस स्कूल आया ही आया था। पहली दर्ज़ा में। इस हादसे में इसी स्कूल के एक और तालिब इल्म का ज़िक्र करना ज़रूरी है। नाम अली जावेद है उनका। मुझसे सात साल सीनियर थे। ख़वातीन-ओ-हज़रात चूँकि इन हज़रत से यहाँ कुछ वाकिफ़ लोग भी हैं लिहाज्जा ज़िक्र कर देना मुनासिब होगा कि हज़रत अली जावेद तरक्की पसंद ही नहीं बल्कि तरक्की पसंद मुसन्नेफीन यानि पी.डब्ल्यू.ए. के जनरल सेक्रेटरी भी हैं। और इत्तेफ़ाक कहिये कि मेरे और उनके माँ बाप भी एक। गोकि अब सनद देने को ज़िंदा न रहे। जनाब हुआ यूँ कि हज़रत अली जावेद और उनके हल्का-ए-यारां को पण्डित जी की कोई बात नागवार गुज़री होगी। चुनांचे रात को लोटे का पानी फेंक कर लोटे में फ़ारिग हो लिए। झाग सुबह तक तो गायब ही होना था सो हुआ पर जायका??? हंगामा तो हुआ पर कोई गिरफ्त में न आया। ख़ैर क्रिस्सा आगे चले।

अब वारिद हुए एक साइंस के मुदर्रिस। तिवारी जी। नौजवान थे। नौजवानी के जोश में अपने चचा का क़त्ल कर दिया। क्योंकि चचा के खेत के वारिस यही थे। शादी चचा ने की न थी। मगर आगे कर न लें इसलिए तिवारी जी को यह नेक काम अंजाम देना पड़ा। हो सकता है इतिहास पढ़ा हो कि

बादशाह किस तरह तख्त हासिल करते थे। थानेदार मिश्र जी थे शायद। बस इतना पता है कि मुकद्दमा हुआ न तिवारी जी हवालात गए। बल्कि मास्टर हो गए। अचानक वह प्रिंसिपल के दायें हाथ हो गए। दोनों ने मिलकर फैसला लिया कि हमारे स्कूल का नाम रौशन होना चाहिए। इतनी मशक्कत की जाये कि जिले के हर स्कूल से बेहतर नतीजे हमारे स्कूल के हों। जनाब-ए-वाला अजब नायाब तरीका तलाशा। स्कूल से अलग कमरों में इन्तेहान होने लगा। एक्सपर्ट बोलते जाते और लोग हर सवाल का जवाब लिखते जाते। तीन अलग-अलग जगहों पर यह काम होता। एक कमरे में अव्वल दर्जा हासिल करने वाले उमीदवारों के लिए। दूसरे में दोयम दर्जा के लिए और आखिर में प्रोलितेरियत के लिए। मशक्कत का मेहनताना लेना पैदाइशी हक है। सो ख्वातीन-ओ-हज्जरात तिवारी जी ने इमारत खड़ी कर ली। प्रिंसिपल साहब की कोठी पहले से थी सो माल-ए-गनीमत शायद हज में लगा आये हों। सिलसिला जारी है। प्रिंसिपल शायद जन्नत में हूरो के साथ हों पर तिवारी जी बा-इज्जत बा-वेक्कार क्रस्बे की इज्जत अफजाई आज भी कर रहे हैं।

(ग्यारहवीं क्रिस्त—11 अक्टूबर, 2013)



क्रिस्सागो हाजिर है हाजरीन।

मेरे मोहल्ले की कुछ ख्वातीन। महजबीन। हुस्र भी। इश्क भी। और ज़रा रुस्वाइयां।

यूँ तो हमारी सगी बहन थी नहीं कोई, मगर मामू, खाला की बेटियों को तालीम मिली। पर याद है कि मोहल्ले में लड़कियों को तालीम लेने का रिवाज न था। एक थी मेरी पड़ोसन। इश्क था उनका नन्हे मियाँ से। लिहाजा छिप कर मिलने में वक़्त लगता था। मोहतरमा मेरे पास आतीं। और हम लिखते खुतूत। इश्कनामे। ‘प्यारी नन्हीं’ से शुरू होते खत। अब मैं किसी नन्हीं को जानता न था तो पहली बार पूछ लिया कौन हैं यह। ‘तुमसे मतलब, फलां गांव की है। सबको तुम जानते हो?’ बस हम ख़ामोशी से लिखते रहे। मगर अक्सर डरते भी कि जो लिख रहे हैं हम उसमें ऐसी-ऐसी बातें। अम्मी को पता चला तो। मगर अम्मी को तो पता नहीं चला हाँ नन्हे मियाँ ने एक दिन पूछा ‘यह नन्हीं कौन है’ जवाब सूझा नहीं मुझे। ख़ूब हँसते हुए बोले। मिला दूंगा आज रात को अपने घर के पिछले दरवाजे से आना। बारह बजे। कह कर चलते बने। अब हम परेशान और नर्वस एक साथ। नींद आयी नहीं और दरवाजे तक जाने की हिम्मत नहीं। मगर आखिर

चल पड़ा दरवाजे की तरफ़। इश्क का नज़ारा पहली बार देखा। मोहतरमा भागीं। मैं वापस और नन्हे हँसता रहा। अगले रोज़ मुझे नन्हें मिले तो मैं खुद चोर जैसा महसूस कर रहा था। जाने क्यों।

दूसरी मोहतरमा ने बेहतर तरीका सोचा। पांचवीं तक पढ़ीं थीं मगर एलान किया कि ट्यूशन लेकर दसवीं पास करेंगी। घर वालों ने इजाज़त दी। हरीशचंद ने ट्यूशन देना शुरू किया। खुद दसवीं फेल थे। मगर जनाब इश्क तो फल फूल रहा था। किसका इम्तेहान और कैसा ट्यूशन। उफ़ वह दो घंटे। अब जनाब मोहतरमा का भाई बम्बई से आया हुआ था। गज़ब का ड्राइवर था वह। और गज़ब हाथ भी चलाता था। फ़िल्में तब देखीं न थीं मैंने। मगर जब पहली बार फिल्म देखी और हीरो ने विलेन का मुंह तोड़ा सर से मारकर तो मोहल्ले का वही बन्दा याद आया। वही सीन भी। रुस्वाइयाँ इश्क की याद करता हूँ तो कलेजा मुंह को आता है। क्या नज़ारा था। हौलनाक। हरीशचंद लहुलुहान। उधर घर में मोहतरमा हाथ की टूटी हड्डी के दर्द में इश्क का दर्द भूल बैठी थीं। अब जनाब इस सारे हंगामे का नतीजा कुछ यूँ हुआ कि डर के मारे नन्हें मियाँ पर से इश्क का भूत जाता रहा। बम्बैय्या ज़ालिम न जाने किधर घूम जाए। मुझे दो रुपये दिए उस ज़माने में मुंह बंद रखने के। उनकी मोहतरमा भी गुज़ारिश लेकर आर्यीं पर पैसे न दिए।

एक और मोहतरमा थीं। उनका नाम लिख सकता हूँ। असगरी। कहाँ की ईंट कहाँ का रोड़ा। हाज़रीन आप बात करें नागासाकी के किसी इंसान की, असगरी रिश्ता कुछ यूँ निकालती थीं। 'वह तो मेरे भाई के ससुर के बहनोई की खाला के चचेरे भाई का मामू है।' इधर की बातें उधर लगाना उनके शौक़ का हिस्सा था। लड़ने को जो भी तैयार मिल जाए उस से उनका टाइम पास। मोहल्ले के लड़के उनको प्रेम चोपड़ा कहते मगर उनको समझ नहीं आता था क्यों। हाँ एक वक़्त के बाद प्रेम चोपड़ा का नाम सुनते ही पत्थर उठा लेती थीं। फिर राज़ खुला उन पर कुछ यूँ कि उनके भाई ज़रग़ाम फिल्मों में एक्स्ट्रा का काम करते थे। आये थे बम्बई से और लोगों को कहानी यूँ बता रहे थे जैसे हीरो हीरोइन सारा मशविरा इनसे ही करते हों। चुनांचे नाम लिया प्रेम चोपड़ा का। भाई के सामने कुछ बोली नहीं लेकिन उस शाम मोहल्ले के हर लड़के ने पत्थर खाए।

(बारहवीं क्रिस्त—14 अक्टूबर, 2013)



बहुत छोटी है क्रिस्सागो की यह क्रिस्त

कोई भूमिका नहीं

उम्र तेरह साल। शादी हो गयी। पांच बच्चे थे इक्के वाले के पास। इक्के

वाला खाया पिया मदमस्त इंसान था। सबसे छोटी बेटि भी तेरह चौदह साल की थी। उन सब की माँ लाया। रात को लड़की चिल्लाते हुए भाग कर घर से निकल गयी। सुना था खून में तर बतर। मर्द मुस्कान लिए आगे बढ़ गए। औरतों ने कुछ कानाफूसी की। मगर रात लड़की मानी नहीं। इक्के वाला खामोश रहा। अगले दिन उसने घोड़ा नहीं खोला। चाबुक घोड़े की निकली और पिछली बर्बाद हुई रात के निशाँ लड़की की पीठ पर उभर गए। मगर लड़की भागी। आखिर कुछ दर्दमंद इंसान। फैसले में लड़की को मानना पड़ा सब कुछ।

खून के दरिया से गुजर उसने कुछ सोचा होगा। सोना (सही नाम याद नहीं न ज़रूरत) नाम था उसका। सोना दो रुपये किलो हो गयी। बहुत दिनों तक। इक्के वाला खुश था।

(तेरहवीं किस्त—14 अक्टूबर, 2013)



यारों कल रुलाया था अब ज़रा कहना अगर मुस्कराहट आये।

किस्सागो जो बोलेगा मेरा ज़मीर गवाह कि सच बोलेगा।

शेख साहब से रस्म-ओ-राह न की/ शुक्र है जिंदगी तबाह न की।

फैज़ साहब से माज़रत के साथ मैं शेख को मीर साहब किये देता हूँ। अब फैज़ साहब तो आने से रहे मुकद्दमा करने। इन मीर साहब के कई रुख और कई पहलू हैं। बचपन से ही ज़रा संजीदा तबीयत पायी। बारीक नज़र, बल्कि फ़लसफ़ियाना नज़र रखते थे। कभी-कभी तो फ़लसफ़े और साइंस का फ़र्क करना मुश्किल हो जाता था। ज़रा ग़ौर करें कि वह दस ग्यारह बरस के रहे होंगे कि मुझे एक वाक़या याद आया उस वक़्त का। मैं उम्र में हुज़ूर से तीन साल छोटा हूँ। इरशाद फ़रमाया 'पाख़ाने से भी गन्दी चीज़ है पेशाब' हाज़रीन मुझे कुछ न तब समझ आया न आज समझ पाया। यानी यह साइंसी दरयाफ़्त थी या फ़लसफ़ियाना नज़र। एक बार फ़रमाया 'अगर खाते वक़्त डकार आ जाए तो फ़ौरन खाना बंद कर देना चाहिए। चाहे भूख जितनी हो। गोया साइंस पर बेइंतेहा कुदरत हासिल थी उस उम्र में भी। अगर पन्द्रह साल की उम्र तक मिज़ाज आशिक़ाना न हो तो ख़ाक़ जिया बचपन। चुनांचे साइंसदान हो या फ़लसफ़ी इस दौर से गुजरेगा ही। घर के पीछे एक बड़ा खंडहर था। किसका था पता नहीं। जिसका था उसे फ़िक्र नहीं। क्यों था मालूम नहीं। लेकिन क्यों का इलाज नौजवान लड़के लड़कियों ने निकाल लिया था। और खंडहर आबाद रहने लगा। एक बार हुआ यूँ की फ़लसफ़ी खंडहर का वीराना दूर करने गए कि कमबख़्त कोई और वीरानगी दूर करने पहुँच गया। आहट मिलते ही

हुस्र की इज्जत रखने की खातिर कामयाबी से उसे छिपा तो गए मगर आने वाले को क्या जवाब देते खुद की वहां तनहा मौजूदगी का। जनाब फ़ौरन खुद के गले से घुटर घूं की आवाज़ निकालने लगे। कहा कबूतर पकड़ने आये थे। अगले दिन जो मीर साहब को देखता फ़ौरन घुटर घूं बोलता। ज़माने तक घुटर घूं मोहल्ले का नेशनल ऐन्थम रहा। इसी खंडहर में एक गज़ब भी हो गया। तबीयत की तरंग अंजाम को पहुँच गयी। कोहराम था क्रयामत का हाज़रीन। एक घर से तरह-तरह की आवाज़ें बुलंद हुईं। रोना पीटना। पिटाई और पीटना। 'कैसे हुआ कलमुही। कहीं का न रखा।' अब शोर इतना फैला की एक लड़का गायब हो गया क्रस्बे से। दो महीने बाद बम्बई में पाया गया। मगर इधर जहाँ कोहराम था क्रयामत का वहां लड़की पर सितम। बेचारी अपने हक़ में जब कुछ न कह पाई तो बोली 'तक्रल्लुफ़ में मना न कर पाए'। ज़माना ऑनर किलिंग का था नहीं। सो जो बन पड़ा घर वालों से। बात दब गयी।

मगर किस्सा तो मीर साहब का है। हुज़ूर के यहाँ ज़मींदारी का खात्मा कब का हो चुका था लेकिन बचपन से तबीयत में ज़मींदारी का खुमार कहाँ से आया पता नहीं। कोई पंद्रह सोलह साल की उम्र तक सारे तौर तरीक़े ज़च्च कर लिए शायद बुजुर्गों को देख कर। छोटों से बात करनी हो तो दीवारों की तरफ़ देख कर। बड़ों से बात करना सिर्फ़ मक़सद के दायरे में। आलम यह कि घर के लोग भी ऐसी ग़ैर मामूली शिख़्मयत के सामने सोच समझ कर बोलते। हमारी तो कभी कोई बात हो न सकी उनसे। इज्जत का बड़ा ख़याल था / है उनको। मुहतरम तब से लेकर आज तक लंबा सफ़र तय कर चुके मगर आज भी तेवर वही हैं। ख़ैर जवानी के किस्से बाद में अभी तो भोला लड़कपन।

मेरे क्रस्बे के दलित यूँ तो हमेशा से ना-उम्मीद। पर ज़मींदारी के खुमार में ब्राह्मण, ठाकुर और मीर साहबान उनको और उनकी औरतों को जागीर समझते थे। हादसा हुआ। जुल्म का ख़ामियाज़ा। पासियों ने लाठी उठा ली। हमारे एक मामू ज़रखी हुए। तो साहब मैं क्या जानू क्या हुआ। सरे आम बोल दिया पासियों ने फलां-फलां तो ठोक दिया। नतीजा ...इतने ठुके हम मीर साहब के हाथों के आज भी ज़ख़म ताज़ा हैं।

(चौदहवीं क्रिस्त—15 अक्टूबर, 2013)



क्रिस्सागो हाज़िर है।

अक़ीदत से सर झुकाओ कि नाम ले रहा हूँ चंद फरिशतों का। 'छाया गीत सुनने वालों को कब्बन मिर्ज़ा का आदाब', 'बिनाका गीत माला लेकर हाज़िर है

आपका खादिम अमीन सयानी' हाय यह आवाजें। 'आयी जंजीर की झंकार खुदा खैर करे।' हमारा बचपन ढला रेडियो से निकलने वाली इन आवाजों में। मोहल्ले में रेडियो सिर्फ एक और सुनने वाले कम-अज्ञ-कम दस। तय पाया कि सब अपने घर से चारपाई और बिस्तर लायेंगे और बाहर सोयेंगे। रेडियो के साथ डींगे भी ज़रूरी थीं। मेरे घर के सामने खुला मैदान था। वही अड्डा बन गया। एक रोज़ बारिश शुरू हो गयी। सामने मस्जिद थी। सारे लोग बिस्तर तकिया और रेडियो लेकर पहुँच गये। वहाँ जाकर धमाचौकड़ी। मगर इस में एक हादसा पेश आया। जब रेडियो ने ग्यारह बजे अलविदा कहा तो 'तकियाबाज़ी' शुरू हो गयी। तकियाबाज़ी यानी अंधरे में एक दूसरे को तकिया से मारना। अरे आलम भाई तुम्हारा मुंह काला हो। तुम्हारे कीड़े पड़ें क्या किया यह तुमने। क्रहर टूटे तुम पर तकिया में ईंट का टुकड़ा भर लाये? खैर ज़्यादा कुछ न हुआ। बस ईंट का टुकड़ा। मिज़ाइल की रफ़्तार। और बाबू मियाँ के जिस्म का एक हिस्सा। इस से बस तीन बदलाव आये। एक तो बाबू मियाँ फिर कभी साथ आये नहीं। दूसरी बात जो ज़्यादा अहम नहीं है। मगर बता ही देता हूँ। बाबू मियाँ ज़रा टांग फैला कर चलने लगे। तीसरी बात जो बिलकुल ही अहम नहीं है। मगर बता ही देता हूँ। आदत से मजबूर बाबू मियाँ ने फिर कभी पतलून नहीं पहनी। ज़रा दिक्कत आ रही थी। पायजामा पहनना शुरू कर दिया। हुआ यूँ था कि तकियानुमा मिज़ाइल अँधेरे में रास्ता भटक गया था। कोई लफ़्ज़ सुना था कि क्या हो गया। बस दिमाग में नहीं आ रहा। याददाश्त ख़राब हो चुकी है। बस यूँ समझ लीजिए कि खुदा जब देता है तो न जाने कहाँ-कहाँ क्या-क्या दे देता है। और फिर बाबू भाई को तो खुदा ने रहमत खुद मस्जिद में दी थी। ऐसी रहमत नाज़िल हुई खुदा की एक खास जगह कि सूजन कभी नहीं गयी। इलाज क्या। लाइलाज था सब कुछ। बाबू से हर कोई पूछता भाई हुआ कैसे यह सब। बाबू हजार गाली देते आलम का नाम लेकर... अब कमबख़्त आलम भी रोज़ पूछने लगा कि बाबू भाई हुआ कैसे यह सब। बाबू को जितनी गालियाँ आती थीं दे देते और बेशर्म आलम पेट पकड़ कर हँसता। जनाब बाबू की बहन की शादी तय हुई। शादी के दिन लड़के ने पूछ लिया बाबू भाई चाल क्यों बदल गयी आपकी। पतलून क्यों नहीं पहनते। वहीं बिलकुल वहीं बाबू ने उसको इतना पीटा कि शादी टूटते-टूटते बची। दस साल पहले मिले मुझे। बाबू ने चाय की दूकान खोल रखी थी। मैंने कहा बाबू भाई! ठीक हुआ? बीस गालियाँ सुना कर बोले पहले सोचा था पैसा नहीं लूँगा। मगर अब रख पैसा।

(पन्द्रहवीं क्रिस्त—16 अक्टूबर, 2013)

क्रिस्सागो आज भी जज्बाती बनाने नहीं आया है

मोहल्ले में एक हज़रत थे सगीर मियाँ। अजीब शख्सियत के मालिक। तीन काम थे उनके नमाज़ पढ़ना, कपड़े की दुकां हर जगह के बाज़ारों में लगाना जिसमें उधार बेचने पर बड़े खुश होते थे। और तीसरा काम था घर वालों को परेशान करना। एक बेटा रईस हैदर पाकिस्तान जा चुका था। बाकी घर हमारे क्रस्बे में। सगीर मियाँ जानते थे कि सजदे से माथे की चमक से उनका चेहरा क्रयामत के दिन रौशन होगा। लिहाज़ा सजदे में जाते हुए सारी ताकत लगा देते चमक बढ़ाने में। अक्सर ज़ख्म भी नज़र आता माथे पर। पर चेहरे पर फख़। सब से छोटा बेटा नजमुल कपड़ों और जूतों का बेहद शौक़ीन था। अक्सर दूसरे लड़के उससे जलते। और वह जलाता भी खूब था। एक रोज़ नए जूते पहन कर सबको खूब जलाते हुए बोला 'पांचवी जोड़ी है। है किसी के पास।' बेख़बर, अनजान इस बात से कि ज़ालिम बाप पीछे खड़ा सुन रहा है। सगीर मियाँ कुछ बोले नहीं। लेकिन हुआ यूँ कि जब अगली सुबह नजमुल सोकर उठा तो देखा कि अच्छी चप्पल गायब थी और चारपाई के पास एक टायर की चप्पल रखी थी और ठीक सामने ज़ालिम बाप खड़ा था। 'पहिनव अब एही चप्पल अऊर एही जूता। बड़ी बड़ी बात करत है।' सारे जूते संदूक में ताले में बंद कर दिए गए। फिर कुछ साल बाद सारा घर पाकिस्तान चला गया। कोई सात साल बाद यह लोग 'वतन' लौटे। न जाने किसका क्या वतन था साहिबान। आये वतन पाकिस्तान के पासपोर्ट पर। तब तक हम इलाहाबाद आ गए थे। लेकिन मिलने क्रस्बे पहुँच गए। सबसे पहली मुलाकात नजमुल की माँ से हुई। यह क्या वह अवधी बोलना भूल गयी थी। ख़वातीन-ओ-हज़रात हमारे घर में तब भी लकड़ी के चूल्हों पर खाना पकता था मगर मोहतरमा ने जो सुनाना शुरू किया। 'हमारे कराची में गैस की पाइपलाइन है यहाँ लकड़ी? उफ़ तौबा' ख़ैर पूछा हमने कि बाबा (सगीर मियाँ) कहाँ हैं पीछे आवाज़ आयी। साला बुड्ढा साईकिल किसी से मांग कर उधार बेचे गए कपड़ों की वसूली करने गया है। यह नजमुल था। शाम को पसीने में लतफ़त कुछ पैसे वसूल करके फ़ातेहाना अंदाज़ में आये। और फ़ौरन 'अपने वतन' की मस्जिद में चले गए नमाज़ पढ़ने। वतन किसका कौन सा मेरी समझ से आज भी बाहर है। ख़ैर जनाब इस बार तशरीफ़ लाए हैं हज़रत रईस हैदर। बाहर चारपाई लगी। और पहली बार हमारे क्रस्बे में खुले आम शराब की बोतल खुली। चचाज़ाद भाई आलम बने हम पियाला। इधर रहमत की बारिश ज़मीन-पाक पर हुई ही थी और सागर की खनक 'आवाज़-ए-ख़ुदा' बन ही रही थी कि रईस

हैदर के चचा रज़ीउल मियां जिब्रील बन कर आये मगर इबलीस बना दिए गए। ज़्यादा तो कुछ नहीं कहा बस इतना कि 'फ़ालतू केतना पईसा बर्बाद कर दिहेव।' अजब दहाड़ निकली शेर की। जैसे चचा ने शराफ़त-ए-नस्ल को गाली दे दी हो। फ़िकरों से फूल बरसे 'सूवर के बच्चे। जाहिल। तुझे मालूम है कि कैसे बर्बाद हुए नहीं बचे हैं कमीने। पाकिस्तान में ब्लैक में इस से चार गुना में मिलती है।' जनाब मामला वहीं ठंडा हो जाता तो बेहतर रहता। आलम जो इत्तेफ़ाक से रज़ीउल मियां की औलाद थे, सुरूर में आ चुके। भाई की मोहब्बत ने भी साथ दिया। फ़रमाया 'मारव साले का।' रईस मियाँ ने कहा 'नहीं मारो मत। इसको पिलाओ।' अब बाप आगे-आगे और बेटा बोटल लिए पीछे-पीछे। ईमान जवानी से जीत गया। वह इस तरह कि जो पहला घर मिला वहां घुस कर बाप ने कुण्डी लगा ली। बाहर से आलम मियां बोलते रहे निकल साले। मगर रईस मियाँ ज़्यादा समझदार थे। बोले 'आलम जाने दो। इस हरामी को बाद में देख लेंगे। शराब बर्बाद मत करो।'

(सोलहवीं क्रिस्त—17 अक्टूबर, 2013)



तौक़ीर माफ़ करना मेरे यार।

क्रिस्सागो के पास आज पाकिस्तान और हमारे मोहल्ले के रिश्ते की एक नाजूक कड़ी है।

मेहरबान क्रद्रदान आज हाज़िर है मेरे बचपन का दोस्त, उम्र में एक दो साल बड़ा होगा। ज़हीन। पढ़ने में बुरा नहीं था। कमबख़्त वह भी न जाने क्यों पाकिस्तान चला गया। अब मेरी फेसबुक पर मुलाकात हुई। कहता है स्काइप पर आओ। बात करने को तड़पता है। और शायद मैं उसको तड़पा भी रहा हूँ। उसको टैग भी कर देता हूँ। नागरी लिपि कैसे भूल सकता है। पढ़ाई तो आखिर छपरा बाग़ (जिसे मैं पब्लिक स्कूल वालों के सामने एहसास-ए-कमतरी से बचने के लिए सेंट छपरा बाग़ भी कह सकता हूँ) का ही पढ़ा है। आलम का चचेरा भाई लेकिन लड़ता नहीं था। तो साहब तौक़ीर चला गया पाकिस्तान। शादी की। चंद साल पहले मैं क्रस्बे गया तो मालूम हुआ कि हुजूर तशरीफ़ लाए हैं। बड़ी खुशी हुई। था कुछ यूँ की सर्दियों में धूप सेंकने लोग मेरे घर के बाहर इकट्ठे होते थे क्योंकि खुला मैदान था घर के सामने जो आज भी है। भला हो उस 'घुटर घूँ' का कि कोई इमारत न खड़ी कर दी वहां। सुबह तौक़ीर अपने बेटे के साथ आया। गले मिले। अब साहब पूरा मोहल्ला अजीब नज़रों से उसे देख रहा था। वजह

समझ न आयी। लेकिन ज़रा ही देर में तस्वीर साफ़ हुई।

हम जब क्रस्बे पहुंचते हैं तो हिंदी-उर्दू का लबादा ट्रेन और बस में उतार कर रख देते हैं। वापसी में वहीं से उठा कर पहन लेते हैं। सिर्फ और सिर्फ अवधी बोलते हैं। एक बार ग़लती से लबादे का एक हिस्सा साथ आ गया था। अम्मी से छोट गए हिंदी-उर्दू। क्रहर आलूद, ज़ख़मी करने वाली नज़रों से देख कर बोलीं 'का बेटवा ज़ियादा पढ़ लिहेओ का। पीएच.डी. हियहीं उड़ेल देहौ का।' हम बोलते क्या बस फ़ौरन अवधी पर उतरे और कहा। 'जाए देव अब कुछ चाय वाय मिली कि नाही' लेकिन तंज़ अभी कम नहीं हुआ था। बोली 'अरे परवीन ज़रा डॉक्टर साहब के लिए फ़ौरन चाय हाज़िर करो' ख़ालिस हिंदी-उर्दू में। अब हमने मुनासिब समझा कि चाय कहीं बाहर पी जाए। तो बहाना बना कर निकल लिए। अब ऐसे में अंग्रेज़ी का रुतबा...ख़ौफ़ करो क्रस्बे वालों के जलाल से ख़वातीन-ओ-हज़रात। हमारे क्रस्बे में अगर आप अंग्रेज़ी बोलते हुए पाए जाएँ तो लोग एहसास-ए-कमतरी नहीं महसूस करते। आपको चाहिए कि किसी जंगी असलहों के ज़ख़ीरे से ज़िरह बख़्तर निकाल लें। पहने और तब अंग्रेज़ी बोलें। क्यों कि गालियों से भी ज़ख़म तो लगते ही हैं। तो जनाब तौक़ीर छपरा बाग़ वाले अपने बेटे से अंग्रेज़ी ही बोल रहे थे और नादान बच्चा आधा समझता और बाकी बाप का मुंह ताकता। समझ आयी वजह मोहल्ले वालों की तीखी नज़रों की।

इसी मरहले में तौक़ीर का एक और रुख़ दिखा। और साथ ही उसके छोटे हिन्दुस्तानी सगे भाई तनवीर का भी। तौक़ीर नया मुल्ला बन रहा था। नहीं दाढ़ी वाला नहीं। प्याज़ वाला। हर बात पर कहता क्राएद-ए-आज़म ने क्या काम किया। कराची शहर को देखो बम्बई क्या चीज़ है। घर पर भी यही बोलता और बाहर भी। हमारे मोहल्ले में न जाने क्यों सब की ज़ेहनियत पाकिस्तान के मुख़ालिफ़ थी। कोई पसंद न करता था। मगर तौक़ीर साहब एक तो अंग्रेज़ी बोल कर तमाम लोगों को मुख़ालिफ़ बना चुके थे और ऊपर से सोने पर सुहागा। हमारा पाकिस्तान। क्राएद-ए-आज़म। एक रोज़ अजब क्रयामत का समां। मज़े लेकर नन्हें मियां ने बताया 'होई गा काम। तनवीरवा कर दिहिस तौक़ीरवा के अनछिला बांस। कल्लाई बहुत देर तक।' कहानी यूँ थी। कि घर पर खाने के वक़्त 'हमारा पाकिस्तान और क्राएद-ए-आज़म' दस्तरख़्वान पर नाज़िल हो गए। तनवीर अब तक पक चुका था इस से। खड़ा हो गया खाना छोड़ कर। सारा घर माँ को आपा कह कर बुलाता था। 'आपा समझाए लेव इनका चार दिन के वास्ते आये हैं इज़ज़त से चले जाएँ। क्रसम कुरआन की अगर सरहद पर मिल जाव न

तो सब से पहिले तुमका गोली मारी। औ सुनव तुम्हरे पाकिस्तान की और ऊ क्राएद-अजम्वा की तो...' बड़ा भाई खामोश और छोटा भाई गुस्से से तमतमाया हुआ। माँ ने बेटे को चुप कराया मगर खाना खाया नहीं उसने। बाहर निकल गया।

(सत्रहवीं क्रिस्त—18 अक्टूबर, 2013)

क्रिस्सा-ए-अक़लमंद

साहबान क्रद्रदान। क्रिस्सा है तीन दोस्तों का जो सेंट छपरा बाग के तालिब इल्म थे। दो शरारती और एक ऐसे अक़लमंद कि जे.एन.यू. का एक वाक़या जेहन में ऐसा आया की बिना कहे आगे क्रदम बढ़ाना मुशकिल है। हुआ यूँ कि हर दिल अजीज़ मदन साहब की हिन्दुस्तानी ज़बानों के मरकज़ यानी भारतीय भाषा विभाग में कैंटीन थी। वहाँ एक मोहतरमा को खुश करने की गरज़ से एक तालिब इल्म में कहा 'तुम बड़ी अक़लमंद हो' जुमला पूरा न हुआ था कि कोहराम। 'तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई मुझे अक़लमंद कहने की' लड़का परेशान। जो हज़रत-ओ-ख़वातीन इन नामों से वाकिफ़ हैं, गुज़ारिश है उनसे राज़ को राज़ रहने दें। बात इतनी बढ़ गयी कि आलमपनाह, सेंटर के चश्म-ओ-चिराग़ हज़रत नामवर सिंह के सामने मुक़द्दमा पेश हुआ। आलमपनाह ज़रा देर खामोश रहे। मुस्कुरा कर पान की गिलौरी मुंह में डाली और लड़के से कहा माफ़ी मांगो। लड़का समझा तो कुछ नहीं पर क्या करता। माफ़ी मांगी। अब आलमपनाह मुखातिब हुए मोहतरमा से और बड़ी मासूमियत से बोले। माफ़ करो मूरख है। जो तुम हो नहीं वह इसने कहा क्यों। अब जाओ ज़रा इनको मैं समझाता हूँ। मोहतरमा रुखसत हुई और बहुत कम मौकों पर जोर से हँसने वाले नामवर जी ने जोर का क्रहक्रहा लगाया और फरमाया कि मोहतरमा ने अक़ल उर्दू से और मंद हिंदी से लेकर मतलब लगाया।

क्रिस्सागो बहक गया। वापस आता हूँ तीन दोस्तों पर। यह भी उस ज़माने में 'अक़लमंद' थे। अब का इसलिए नहीं कह सकता कि प्रोफ़ेसर हो गए हैं। 'अक़लमंद' साहब के एक दोस्त थे अली जावेद। मुहतरम दिल्ली में ही तशरीफ़ रखते हैं। अक़लमंद को एक बार सर में कोई ऐसी बीमारी हुई कि पूरे सर में फुंसियां निकल आयीं। सर के बाल छोटे करवा लिए। फुंसियां और नुमार्यो हो गयी, हर कोई देख कर कहता अबे सर पर चेचक निकलते पहली बार देखा। परेशान थे मोहतरम कि अली जावेद साहब को एक अचूक दवा सूझी। बड़े दोस्ताना अंदाज़ में ख़ुलूस के साथ बोले। एक ही इलाज है और तुम करोगे नहीं।

वह बोला सब करूँगा तुम बताओ तो सही। मशविरा मिला कि सिर्फ एक हफ़ता। उससे ज़्यादा नहीं। एक हफ़ता भैंस का ताज़ा गोबर दिन भर लगा कर रखो। न ठीक हो तो दोस्ती तोड़ लेना। फ़ौरन सलाह मान ली गयी। अगले रोज़ जा खड़े हुए पास के मोहल्ले में सुबह-सुबह भैंस के पीछे। आख़िर भैंस ने उनकी अंजुरी भर दी और सर की ताजपोशी फ़ौरन हो गयी। अब साहब ताज सर पर संभाले आप स्कूल भी पहुंच गए। स्कूल से पहले प्रार्थना होती थी। किसी तरह वहाँ तो खड़े होने में कामयाब मगर उसके बाद जब पहली क्लास में पहुँचे तो मास्टर ने डांटते हुए पूछा कि माजरा क्या है। सारी बात खुल गयी। ख़ैर स्कूल में तो कुछ सज़ा नहीं मिली लेकिन अली जावेद को सज़ा मिली घर पर अपनी माँ के हाथों झाड़ू से और डंडे से। क्रिस्सागो चश्मदीद गवाह। तीसरे दोस्त का क्या हुआ क्रिस्सागो को ख़बर नहीं। पर इतनी ख़बर ज़रूर है की उसी शाम तीन चार दोस्तों की ख़ुफ़िया मीटिंग हुई। जाने क्यों ऐसी ख़ुफ़िया मीटिंग को हमारे क़स्बे में मिसकौट कहा जाता था। और इस मिसकौट का अंदाज़ा था क्रिस्सागो को। और क्रिस्सागो चश्मदीद गवाह अगले रोज़ के उस वाक़ये का भी है जो दरपेश हुआ। दरअसल मैं दूसरे या तीसरे दर्जे में पढता था तो अकेले स्कूल आता जाता नहीं था। लिहाज़ा अक्सर वाक़यात मेरे सामने हो जाते। बेताज अक़लमंद के सर पर पीछे से हमला हुआ। हथियार थी दवात। जी हाँ कलम दवात वाली दवात। हमला अली जावेद के दोस्त जो आजकल बैंक मैनेजर हैं उनके हाथों हुआ। चोट गहरी थी मगर बेताज अक़लमंद ने अपनी हिम्मत और बहादुरी का मुज़ाहरा करते हुए कहा 'ले घंटा कुच्छो न भा। अबे हमार सर है' इधर हमलावर और साथी फरार हो गए मौक़ा-ए-वारदात से। अगले लमहे गालों पर कुछ गर्माहट और गीलापन महसूस हुआ। हाथ लगाया तो ख़ून। अब जो दहाड़ मार कर रोया अक़लमंद 'अरे बाप रे लाल-लाल बहत है।' वह रोए और लोग हंसें। ख़ैर किसी ने एक मैले कुचैले कपड़े को जला कर गर्म राख सर पर चिपका दी। वह फिर चिल्ला कर रोया मगर जाने क्या हुआ ख़ून एकदम बंद हो गया। साहबान अब बचे हम। घर पहुँचने के पहले हज़रत अली जावेद और उनके दोस्त ने गिरफ्तार कर लिया। हमसे बोले 'आज शाम के लेमन चूस चाही कि पिटाई।' हम हक्का-बक्का। हमारे जवाब का इन्तेज़ार किये बिना बोले 'हम जउन बतौबये व बोलिहाऊ तो मिली लेमन चूस अऊर जो देखेव व बोलिहौ तो कल तुम्हरेव सर पर ओही पड़ी अऊर थपड़ अलग से। सुनव कोऊ पूछै तो कहेव ऊ अपने सर पर दावात या कही के मार लिहिस कि सार येही सर माँ गोबर लगवाय दिहिन रहा एका हम फोड़ देब आज। औ फिर सर पर खुददय मार लिहिन।' न लेमन चूस मिला न

थपड़ क्योंकि हमें पूरी तरह याद नहीं रहा जो समझाया गया था। पर जितना बोला उतने में इलजाम हमलावरों से हट गया और जैसा बयान दिया अक़लमंद ने उसमे ज्यादा अक़लमंदी लगाते हम ज़रूरत से ज्यादा इलजाम लगा गये। तो जनाब मुक़द्दमा ख़ारिज हो गया। साथ थी ही 'अक़लमंद की अक़लमंदी' भी।

(अठारहवीं क्रिस्त—19 अक्टूबर, 2013)



पिछली क्रिस्त से यह पोस्ट बालिग हो गयी

साहिबान क़द्रदान क्रिस्सागो आज एक किरदार लेकर हाज़िर है क्योंकि कल रात उसी का फोन आ गया तो याद ताज़ा हो गयी।

ज़फ़र क्रिस्सा पहला।

ज़फ़र हालांकि हमारे क़स्बे का नहीं पर फिर भी है। शिवपालगंज के साथ जैसे भीखमखेड़ा जुड़ा है। ज़फ़र बचपन के सूफ़ी मिज़ाज के फ़लसफ़ी और बेपनाह ज़ेहनियत के मालिक। दोस्तों से ख़ास मुहब्बत हुज़ूर को। फ़लसिफ़याना मिज़ाज और दोस्तों से मोहब्बत के मद्देनज़र घर वाले उनसे बाज़ार का सामान लाने को न कहते। वजह सिर्फ़ इतनी थी की मोहतरम जब घर से पैसा लेकर सामान ख़रीदने निकलते तो ज़ाहिर है रास्ते में यारों से मुलाक़ात हो जाती। उस वक़्त वह भूल जाते की घर में खाना भी बनना है जिसका सामान वह ख़रीदने निकले हैं। याद आती यारों की संगत और चायखाने। बस साहब घर वाले ज़रा देर में हालात से समझौता करके कोई दूसरा इंतज़ाम कर लेते। आह क्या वाक़या याद आया। हज़रात-ओ-ख़वातीन दर्दनाक मंज़र है सीनों पर हाथ रख लें। याद करके आज भी क्रिस्सागो दहल उठता है। हुआ कुछ यूँ कि ज़फ़र की बहन की शादी तय हो रही थी। लड़के वाले आये थे बात पक्की करने। जनाब-ए-वाला कोई आठ बजे शाम बात पक्की हो गयी। बड़े भाई ने ज़फ़र को सर से पैर तक घूरा। वजह साफ़ थी। घर के बड़े होने की वजह से उनको बहन की ससुराल वालों के साथ बैठना था तो बाहर कैसे जाते और शगुन की मिठाई का इंतज़ाम ज़रूरी था। लिहाजा बचा ज़फ़र। घूरने में पैग़ाम था। वह यह कि ज़रा आज ऐसी हरकत न कर जाँँ आप। पैसे निकले जेब से और ज़फ़र से कहा गया ख़बरदार ज़रा देर हुई तो। ज़फ़र ने नागवारी का इज़हार किया। यानी आप लोग मुझे समझते क्या हैं कि मैं इतना ग़ैर-ज़िम्मेदार हूँ। लोगों के चेहरे पर इत्मीनान झलका। तो हुज़ूर चले शगुन की मिठाई ख़रीदने। खुदारा, अजब ज़िम्मेदारी से भरे क़दम उठ रहे थे उसके। पर सब कुछ तो ख़ुदा के हाथ है। उसको क्या मंज़ूर

कौन जानता है। अभी हलवाई की दूकान आयी न थी कि महफ़िल-ए-यारां दिख गयी चायखाने पर। सूफ़ी मिजाज के फ़लसफ़ी को होश कहाँ खुदा ने जो राह दिखा दी उधर क्रदम बढ़ गए। अब साहबान जेब में जितने पैसे उतनी लंबी महफ़िल। होश आया अचानक सूफ़ी को। बहन की याद में तड़पा और भाई के जलाल से दिल धड़का। कोई ग्यारह बजे रात घर पहुंचा। जैसा की हमेशा होता था। अम्मी धीरे से दरवाज़ा खोल देती और जनाब भाई के गुस्से से बच कर चुपचाप सो जाते। देखा घर की सारी रोशनी बुझी हुई। इत्मीनान हुआ। धीरे से आवाज़ लगाई 'अम्मी भाई जान सो गए?' दरवाज़ा धीरे से खुला। झनाटेदार थप्पड़ गाल पर। बकौल सूफ़ी उसके जेहन में पहला सवाल आया 'अम्मी के हाथ में इतनी ताक़त कहाँ से आयी' अचानक पूरा घर रोशन हो उठा। देखा अम्मी की जगह बड़े भाई खड़े थे। घर के बड़े से आँगन में सारे लोग बाक्रायदा मौजूद थे। सारी नज़रें सूफ़ी पर और सूफ़ी की नज़रें ज़मीन पर। मगर किसी ने सवाल नहीं किया कि मिठाई कहाँ है। क्योंकि मिठाई तो ज़रा देर बाद बड़े भाई ख़रीद लाये थे और मेहमान जा भी चुके थे। इसका एक फ़ायदा यह हुआ कि फिर ज़फ़र से कभी कोई ख़रीदारी करने को नहीं कहा गया।

ज़फ़र अगली क्रिस्त में फिर तशरीफ़ लायेंगे। हुज़ूर फ़ेसबुक पर नहीं हैं लिहाज़ा गुलाम बचा हुआ है।

(उन्नीसवीं क्रिस्त—21 अक्टूबर, 2013)



बीसवीं क्रिस्त कोलम्बो से

क्रिस्सागो हाज़िर है हाज़रीन। ज़फ़र—2

अय दर्दमंदो। झुक जाओ क्रदमों में इस फरिश्ता सिफ़त सूफ़ी के। ज़फ़र निहायत ज़हीन इंसान है। अक्सर उसका जेहन ऐसी जगह चला जाता है जिसका कोई तसव्वुर आम इंसान के लिए मुमकिन नहीं। मिजाजन फ़लसफ़ी और सूफ़ियाना तबियत उसे दुनियावी मसलों में उलझने का मौक़ा कम ही देती है। एक दर्दमंद दिल जो उसके अंदर धड़कता मज़लूमों और लाचारों के लिए उसको दुनिया समझ नहीं पाती। सड़े गले निज़ाम पर नज़र रखता है पर उसकी मुख़ालफ़त के लिए जो तड़प है वह मंज़र-ए-आम पर नहीं आ पाती। लेकिन खुदा-ए-बुजुर्ग-ओ-बरतर सब देखता है। क़ायल है वह फ़लसफ़ी और सूफ़ियाना तबियत के दर्दमंद दिल का। चुनांचे खुदा-ए-बुजुर्ग-ओ-बरतर ने उसको मौक़ा फ़राहम किया। क्रिस्सागो की ज़बान जले अगर वह हज़रत ज़फ़र की मंशा पर

जरा भी शुबहा करे। हुजूर की नेकदिली का वाक्या पेश है। यह फ़लसफ़ी और सूफ़ी किस क्रदर दोस्तों की क्रदर करता है और कितनी मोहब्बत है अपने यारों से उसे, उसका तफ़सील से ज़िक्र पिछली बार किया जा चुका है। क्रिस्सागो अब आपको एक और तस्वीर दिखाता है।

हज़रत ज़फ़र का एक दोस्त सख़्त बीमार पड़ा। ख़बर मिलते ही ज़फ़र ने चार दोस्तों को तलब किया। बीमार के घर वालों पर बोझ न पड़े लिहाज़ा बीमार के लिए अपनी तरफ़ से फल ले जाना ज़रूरी था। खुदा गवाह है कि हज़रत ने खुद अपनी जेब से दो केले खरीदे। आँखों में अश्रकों का समुन्दर लिए चार दोस्त बीमार के पास हस्पताल पहुँच गए। अब हुआ यूँ कि हज़रत को देखते ही बीमार उठ बैठा। हज़रत रोते हुए उसके गले लगे और आँखों का समंदर बीमार पर उंडेल दिया। खुदा झूठ न बुलाए अजब आलम था। दर्दनाक मंज़र। बीमार ज़फ़र को दिलासा दे रहा था मगर आंसू रुक न रहे थे ज़फ़र के। कमज़ोरी आ चुकी थी लिहाज़ा ज़बरदस्ती उनको वही दोनों केले खिलाये गए। ज़रा जिस्म में तवानाई आयी। अगले रोज़ फिर वापस आने का वादा करके चारों दोस्त वापस चले। अचानक बाहर आने पर तीन दोस्तों ने हज़रत ज़फ़र को नदारद पाया। हुआ यूँ था कि इत्तेफ़ाक़ से ग़रीबों पर अस्पताल जो जुल्म कर रहा था, उसकी खबर हो गयी हमारे सूफ़ी को। अस्पताल के कारिंदे मरीज़ों को खाना पहुचाने ट़ाली ले कर जा रहे थे। ज़फ़र ने उनको रोका। फ़ौरन हुक्म हुआ कि खाना दिखाया जाए उन्हें। लोगों ने जब उनसे दरियाफ़्त किया कि हुजूर आप हैं कौन तो क्रयामत बरपा। 'अभी पता चलता है नालायकों। दिखाओ क्या है खाने में।' फ़ौरन बरतन खुले और गज़ब खुदा का कि पानी जैसी दाल और जली रोटियाँ। सब्जी रोती हुई। हज़रत-ओ-ख़वातीन खुदा आपको ज़फ़र का जलाल न दिखाए। सबको तलब किया हज़रत ने एक कमरे में। डॉक्टर भी आन पहुंचे। हर तरफ़ से माफियाँ मांगी जा रही थीं मगर जलाल में हज़रत के कोई कमी न आयी। इससे पहले कि मुआमला आगे बढ़ता दरवाज़े से आवाज़ आयी। 'हियाँ बईठ है साला जफ़रवा। का बे साले का हरामीपन होई रहा है।' इससे पहले कि वहाँ मौजूद लोगों को मालूम हो कुछ भी हमारे सूफ़ी पल के पल में तेज़ रफ़्तारी से हस्पताल से नदारद।

शाम चारों दोस्त जब मिले तो हज़रत ने हज़ार गालियाँ देते हुए फरमाया 'कमीनो कम-से-कम बीस हज़ार का नुकसान करवाया। अबे तुमको भी तो मिलता कुछ।'

(बीसवीं क्रिस्त—23 अक्टूबर, 2013)

क्रिस्सागो हाजिर है।

हाजरीन, नाजरीन। नासाज तबीयत और क्रिस्सा। ताहम हमारा क्रस्बा और हमारी तालीम। कर्ज है मेहरबानो।

हजरात-ओ-खवातीन, टुरा लफ्ज से शायद वाक्रिफ न हों आप। शहर का लफ्ज नहीं खालिस देहाती-क्रस्बाई लफ्ज है। गुल्ली-डंडा खेलने वाले कई तरह की गुल्लियाँ बनाते हैं। मोटी-पतली और कुछ अजीब शकल की। बस यह अजीब शकल है टुरा। न मोटी न पतली। कदू जिसे मेरे कस्बे में कुम्दा कहा जाता है उसका खयाल कीजिये। हुई न अजीब शकल। ऐसी गुल्ली। अब हुजूर अगर इंसान को ऐसी शकल से खुदा या भगवान (शायद इनके अलग-अलग खानदान हैं। कोई पुरानी रंजिश है। पहले कुनबा था, ऐसा सुना है। खैर अल्लाह की मर्जी है। लीजिए अब भगवान रह गए। जाने दो) नवाज दे तो लड़के-बच्चे बेतुकी बात कर ही देंगे। तो जनाब दो साल यानी छटवीं और सातवीं पास करके जब हम आठवीं दर्जे की मेराज को पहुंचे तो पता चला कि हमारे गणित के मुंशी जी का नाम शुक्ला (क्या करूं शुक्ला के पहले क्या होगा यह रजिस्टर जानता होगा किसी ने बताया ही नहीं) जी था। अरे हम तो टुरा मास्टर को ही जानते थे। इत्तेफाक ही था कि शुक्ला जान सके क्योंकि दूसरे शुक्ला तैनात हो गए थे मास्टरी में। तो साहब सिर्फ फर्क जानने के लिए उनका नाम टुरा शुक्ला हो गया। कोई और मंशा नहीं थी तालिब इल्मों की। टुरा शुक्ला की भी कोई मंशा नहीं थी। दरअसल पास के गांव में काश्तकारी करते थे। मेरा खयाल है बारहवीं पास करने के बाद। और भी काम थे उनके। जैसे शाम को अजदाद से मिली विरासत यानी आटे दाल नमक वगैरह की दूकान पर ड्यूटी देना। लिहाजा तालिब इल्मों को कोई और इल्म मिले न मिले जमीन और काश्त की पैमाइश और आटे दाल का भाव जरूर मालूम रहता था। खुदा झूठ न बुलाए आज भी एक बीघा के बिस्वा जैसे हिस्से खाकसार को याद हैं। दीगर और मामूली बात है कि हम आज भी गुणा भाग दूसरों से करवाते हैं। खुद करें तो नफा-नुकसान के जिम्मेदार हम खुद माने जाते हैं। अक्सर आटे-दाल, बिस्वा-बीघा से उनकी तबियत भर जाती। उस रोज वह क्लास में दाखिल होते ही ब्लैक बोर्ड पर कोई ऐसा वजनी दर्ज कर देते कि खुदा बख्शे, हजरात पाणिनि भी खुश हो जाते होंगे कि अच्छा हुआ हम इनकी क्लास में नहीं हैं। 'चलव जल्दी से सिद्ध करव।' यह उनके पसंदीदा मशगले का वक्फा होता था। यानी अपने यार जंग बहादुर के साथ दुनिया के मसायल सुलझाने और क्रहक्रहा लगाने का। जंग बहादुर साहब भी तालीम देने

का पेशा (सेंट) छपरा बाग कॉलेज में ही करते थे। उनसे बड़ा बारहवां खिलाड़ी हमने जिंदगी में नहीं देखा। हुजूर बारहवां खिलाड़ी तो मैदान-ए-जंग में किसी-किसी दिन मौका पाता है मगर जंग बहादुर हर रोज़ मैदान-ए-जंग में नज़र आते। उसकी ख़ास वजह थी जो हमें बाद में पता चली। जंग बहादुर साहब किसी ख़ास सब्जेक्ट के मास्टर नहीं थे। वह बस मास्टर थे। मास्टर होने के नाते जिस दिन कोई दूसरा मास्टर कॉलेज न आता, वह उसकी जगह क्लास में तालिब इल्मों का ख़ानदानी शिजरा तलब करते हुए एक घंटा बा-आसानी गुज़ार लेते। एक दफ़ा ऐसी ही क्लास में अगला नंबर मेरा आया तो मुस्कुरा कर बोले 'तुम रहय देव, जानित ही।' मुख़्तसर यह कि जंग बहादुर और टुरा शुक्ला एक ही कॉलेज में एक ही पेशे के पेशेवर थे। पसंदीदा मशग़ले का वक़फ़ा आते ही दोनों यकजा होकर पेशे की थकान दूर करते थे। एक रोज़ यही सिलसिला था। तालिब इल्म 'सिद्ध' कर रहे थे क्रहक्रहे और हेहेहे के दरमियान। जी हाँ। क्रहक्रहा लगाने का जिम्मा टुरा साहब का था। जंग बहादुर कमजोरी और मुसलसल बीमारी की वजह से सिर्फ़ हेहेहे कर सकते थे। क्रहक्रहा लगाने पर ख़ासी बहुत परेशां करती थी जंग बहादुर को। एक मनहूस ऐसी ही क्लास। क्रहक्रहा और हेहेहे के दरमियान हमने गरज सुनी। देखा तो साहब खड़े थे। प्रिंसिपल साहब को कोई सर या कुछ और नहीं बोल सकता था। वह साहब थे और मरते दम तक रहे। 'सुनव सालेव। खिखियात हव हियाँ। टांग म हाथ डाए के पटक देब भेजा बहि जाई।' वह पहला दिन था जब हमने साहब को दिल से सलाम किया।

(इक्कीसवीं क्रिस्त—29 अक्टूबर, 2013)



क्रिस्सागो खिदमत में आया हाज़रीन-ओ-नाज़रीन

यूँ तो आजकल हम पर तंज़ करने वाले हमें यादों का कारवां वाला कह कर मुखातिब होते हैं। पर क्रिस्सागो अपना काम करे या जहाने फ़रेब में उलझे।

यूँ तो यह क्रिस्सा पहले आना चाहिए था पर क्रिस्सागो को ख़तरा था कि किरदार जो खुद भी पढ़ रहे हैं इन क्रिस्सों को कहीं गलत न ठहरा दें। इत्मीनान हुआ कि उनकी मंजूरी है।

जनाब बाबू के साथ जो दर्दनाक हादसा पेश आया और जिसकी वजह से उम्र भर के लिए उन्होंने पतलून को अलविदा किया। उसके फ़ौरन बाद यह हादसा पेश आया। अब बाबू की चारपाई तो न आती रात को मगर छाया गीत और अमीन सयानी ग्यारह बजे तक रंग बिखेरते हम बाक़ी लोगों की महफ़िल

में। एक रोज़ स्कूल से लौटते सगीर मियां की औलाद नजमुल ने बताया कि सारा घर दो दिन के लिए क्रस्बे से बाहर जा रहा है लिहाजा वह दो दिन महफ़िल-यारां में नहीं होगा घर की पहरेदारी करेगा। बड़े नफ़ीस अलफ़ाज़ थे उसके अपने बुजुर्गवार वालिद के लिए 'साला सनकी। कहिस कि अगर बाहर सोएव तो हुवर्यीं से तुम्हार मय्यत जाई कबर मा। मरबो नहीं करत। साला पता नहीं का अमल करत है। हमार अम्मी रांड होई जाँ मगर एसे छुटकारा मिलय।' यह अमल की बात हमने देखी थी। जाने क्या था। सगीर मियाँ घर के एक कोने में रोज़ शाम पानी डालते कुछ पढते और फूंकते। किसी को भी सख़्त मनाही थी उधर जाने की।

नजमुल को सबने सुना। हमसे किसी ने कुछ कहा नहीं। शाम को आलम ने कहा 'सुनव अम्मी का बुर्का चोराय लिहेव तब आयेव नहीं तो टांग तोड़ देब। बाकी बाद माँ बतऊबे।'

क्रिस्सा मुख़सर। रात को साढ़े ग्यारह बजे का वक़्त। पांच लोग दीवार के सहारे उतरे उसके घर में। तीन लालटेन साथ। अंदर जा कर बुर्के पहने। एक लालटेन बिलकुल हलकी रोशनी में रखी गयी जहाँ सगीर मियाँ अमल करते थे। अब एक लड़का नजमुल की चारपाई के नीचे घुस गया। चार बुर्का पहने लड़के चारपाई के चारों तरफ़। सर और पैर की तरफ़ बिलकुल हल्की रोशनी में लालटेन। पैर की तरफ़ वाले ने पैर का अपना पंजा चारपाई की तरफ़ करके रोशनी से लगा दिया। अब चारपाई के नीचे से आवाज़ आनी शुरू हुई। एकदम नाक से निकलने वाली आवाज़। साथ ही नीचे से धक्के बिस्तर को। आँख खुली नजमुल की। इस से पहले कि कुछ समझ आता। सरहाने से दबी सी आवाज़ आयी। 'हम तुम्हरे अब्बा के अमल से निकले हन। कहाँ है कूकुर'। अचानक एक चीख और नजमुल बेहोश। बहरहाल बुर्के गायब हुए। लालटेन तेज़ हुई। तक्ररीबन दो घंटे लगे नजमुल को सँभालने में।

(बाइसवीं क्रिस्त—3 नवंबर, 2013)



मुदत हुई है यार को मेहमां किये हुए।

हाज़िर हुआ बहुत दिनों बाद।

साहिबान क्रद्रदान क्रिस्सागो आज एक किरदार लेकर हाज़िर है जो अपने फ़न में बड़ा माहिर है। गोकि क्रिस्से का किरदार हमारे क्रस्बे से ताल्लुक नहीं रखता लेकिन वाक़या गुज़रा हमारे क्रस्बे में। बुजुर्गवार अली जावेद, इक्रबाल

बुलंद रहे उनका प्रगति लेखक संघ के आलमपनाह की शादी में जे.एन.यू. से काफ़ी लोगों ने शिरकत की। उन्हीं में से एक नगीना हैं जावेद रसूल। ग़ज़ब का पारखी। खाक हो जाये दिमाग़ और ज़बान कटे अगर उनकी शान में गुस्ताखी हो या मैं एक लफ़्ज़ झूठ बोलूँ। जनाब उनको गांजे की तलब ने परेशान किया। मुझसे फरमाया इंतज़ाम करो। अजब हालत मेरी। मुझे पता था कि मोती भाई चुपके से यह ख़िदमत-ए-खल्क अंजाम देते हैं पर उनसे कहूँ कैसे। जावेद रसूल बोले 'हिम्मत-ए-मरदां मदद-ए-ख़ुदा।' जबकि हम दोनों ही ख़ुदा से बहुत दूर। हमने सोचा गांजे में ख़ुदा का सहारा लेने में क्या बुराई। आख़िर ग़ालिब नमाज़ पढ़ने जा रहे थे और रास्ते में बोतल मिल गयी तो वापस ही आ गए थे यह कहते हुए कि जब ख़ुदा ने दुआ पहले ही कुबूल कर ली तो अब नमाज़ को क्या जाना। कलेजा थामे हम मोती भाई के पास पहुंच गए। बड़ी हिम्मत करके कहा 'मोती भाई गांजा चाहिए।' अरे साहब तूफ़ान मच गया। मोती भाई बोले 'अबहिन बाजी के पास जाईत ही। एही के वास्ते दिल्ली पढ़ए भेजो रहा' मेरे हवास फ़ाख़्ता। सफ़ाई देता रहा 'मोती भाई हमका न चाही हम नहीं पीत ई दिल्ली से मेहमान आये हैं इनका पिये का है।' मगर मोती भाई उतर पड़े थे तब तक दूकान से एलान करते हुए 'मक्खन तनी दूकान देख्यो हम बाजी से मिल के आयित ही' बड़ी मिन्नत मशक्कत के बाद मोती भाई नरम पड़े। दूकान पर चढ़े। एक डिब्बा खोला और मुट्ठी भर गांजा जावेद रसूल के हाथ में रख दिया। अब उस फ़नकार और पारखी को देखिये। हुज़ूर ने सूंघा गांजे को। फरमाया 'केरल का है' मोती भाई अब कभी मेरी तरफ देखें कभी पारखी की तरफ। अचानक उनका हाथ दूसरे डिब्बे में गया और जावेद के दूसरे हाथ में गांजा रख दिया 'इ कहाँ का है' पारखी की गर्दन झुकी, नाक हथेली पर गयी और आवाज़ निकली 'पटना का।' मोती भाई मुझ पर बरस पड़े 'ऐसन लोगों के साथ रहत हौ। का पढते हौ दिल्ली मा। गांजा पर किताब। बताये बगैर न रहब बाजी का।' माफ़ी तलाफ़ी के बाद गुस्सा कम हुआ फिर नन्हे मियाँ ने भी मदद की हमारी। ख़ैर अम्मी के पास बात न जा पाई।

अब जितने दिन हम क्रस्बे में रुके हम तो मोती भाई से भागते रहे और जितने दिन जावेद रसूल रुके वह मोती भाई से मोहब्बत जताते रहे।

(चौबीसवीं क्रिस्त—9 दिसंबर, 2013)

साहबान क्रद्रदान गो कि मुझे नापसंद करने वालों ने मेरे वालिद का दिया हुआ नाम बदल कर हज़रत गब्बर सिंह वाला और यादों का कारवां वाला रख दिया है लेकिन इसे मैं उनकी नवाज़िश के तौर पर लेता हूँ।

इर्दगिर्द इलेक्शन की खबरों के दरमियान क्रिस्सागो को आज याद आया बचपन में देखा इलेक्शन का माहौल। और उस दौर में एक उम्मीदवार की खुशी से लेकर रुसवाई और कुछ मजेदार नज़ारे। आज़ादी के बाद से हमारे हल्के में आज तक सीट रिज़र्व रही है और उम्मीद है हिन्दुस्तान हमारी यह अज़मत कभी नहीं छीनेगा। कांग्रेस शायद आज़ादी के बाद से कभी यह सीट हारी न थी जब तक कि माया की माया और मुलायम की छाया ने उसे अपने तिलिस्म में नहीं ले लिया। तो जनाब हमारे बचपन का वाक़या है। एक थे नाथूराम। बाल की लटें किसी हसीना की जुल्फों के मानिंद होने की वजह से नज़र नहीं खींचती थी, बल्कि इसलिए कि शायद नहाने से उनको नफ़रत थी और बाल खासे लंबे होने की वजह से एक साथ बा-जमात आलिंगन करते थे। कुछ ऐसा ही हाल दाढ़ी का था। किसी गांव में मुखिया बनने में अज़ीमुशशान फ़तह हासिल की थी। इस फ़तह के बाद उन्होंने तय किया कि अब कपड़े धोने का पुश्तैनी कारोबार तर्क किया जाए। लिहाज़ा उन्होंने फ़ैसला लिया कि अब ख़िदमत-ए-ख़ल्क में ही ज़िंदगी गुज़ार देंगे। इलेक्शन से ठीक पहले जनसंघ के एक नेता की मौत ने उनके दामन को खुशियों से भर दिया। अब नाथूराम साहब जनसंघ की तरफ़ से जनता पार्टी के उम्मीदवार बन गए।

देखिये हमारे समाज का ताना बाना, ब्राह्मणवादी जेहनियत और मक्कारी।

नाथूराम जनसंघ के हिमायतियों से, दूसरे लीडरान से मिलते तो हालात क्या बनते। जनसंघ के ज़्यादातर हिमायती जायसवाल थे। नाथूराम ज़मीन पर बैठते और बाकी लोग तख़्त, चारपाई या कुर्सियों पर। हर किसी को वह साहेब कहते। बाकी लोग उनको ससुर, साले, और उनके पुश्तैनी पेशे के वाबस्ता नामों से मुख़ातिब करते। पता नहीं नाथूराम को दुःख भी होता था या फिर वह इसके आदी थे।

ख़ैर नाथूराम को हिंदी के सबक़ दिए जाने लगे क्योंकि उनको सिर्फ़ अवधी आती थी और ज़ाहिर है तक्ररीरें हिंदी में करनी थी। जो पहली तक्ररीर मैंने सुनी उसमे दो जुमले हिंदी में बोलने के बाद उन्होंने ने कहा 'हम तो हिंदिये मा बोलब्ये ई उर्दू फुर्दू हमका नहीं सुहात।' उनका मानना था कि जो अवधी वह बोलते हैं वह हिंदी है और जो जुबान उनको सिखाई गयी वह उर्दू है। (इस लिहाज़ से उन्होंने बड़ी ऊंची बात कह दी थी। आज कहते तो जगदीश्वर चतुर्वेदी उन पर मुकदमा कर देते)। इसके बाद दो तक्ररीरें मुझे और सुनने को मिलीं। एक बार जोश में कह गये, 'ई गाय बछड़वा की तो हम बहन...' तालियाँ। नाथूराम पहले मुस्कुराये। फिर ज़रा शर्माए बोले 'का कहीं जबनिया फिसर गए। जाये दो।

कहए का मतबल ई की हराए के छोड़ब कंग्रेसिया का। लहास उठवाय देब।' उनकी इस बात का किसी ने बुरा नहीं माना हँ जब स्टेज से हाथ जोड़े उतरे जो एक जायसवाल साहब ने 'तोरी तो...' और लगे हाथों उनकी दाढ़ी भी खींच दी। मगर चेहरे की मुस्कराहट नहीं गयी नेता जी की। बोले 'का करी निकर गा मुंह से।' फिर भी नाथूराम को फ़तह हासिल हुई।

पहली बार उसी ज़माने में हमने संघ की खाकी निकर और लाठी का जुलूस देखा। जुलूस के पीछे एक पोस्टर था जो उस वक़्त नहीं जानता था कि कौन हज़रत हैं मगर अब अच्छी तरह जानता हूँ कि पोस्टर श्री जयप्रकाश नारायण का था।

(पच्चीसवीं क्रिस्त—13 दिसंबर, 2013)



लल्लन और क्रस्बे की हवेली का खंडहर

साहबान हर क्रस्बे में एक लल्लन पाया जाता है। हर क्रस्बे में कोई टूटी-फूटी हवेली मौजूद होती है। हमारा क्रस्बा भी पीछे नहीं।

हमारे इलाक़े में तोते के बच्चों को टुईयाँ कहा जाता है। लल्लन साहब टुईयाँ पकड़ने के बड़े माहिर खिलाड़ी थे। एक बार सर्दी के दिनों में इतवार का दिन कि कोई आठ स्कूली लड़के जिसमें हम भी शामिल थे, निकले टुईयाँ पकड़ने। पेड़ पर चढ़ना सिर्फ लल्लन को आता था। लल्लन ज़रा तुतलाते थे। जैसे टुईयाँ को वह तूइय्याँ बोलते थे। एक पेड़ पर अंदाज़ा हुआ कि तोतों का घोसला है इसलिए लाज़मी तौर पर टुईयाँ मिलेगी। बस यूँ चढ़े पेड़ पर लल्लन और पहुँच गए घोसले पर। लेकिन वहाँ जाते ही कांपने लगे। अब ऊपर जाते बने न नीचे। नीचे से कोई चिल्लाया 'अबे का भा' लल्लन बोले 'अबे दो है दो।' नीचे से हमने कहा 'दुइनो पकड़ न' लल्लन ने कहा 'थाले दो नहीं दो' अजीब हालत। अचानक लल्लन पेड़ से गिर पड़े। और हम सब ने देखा कि एक गोह जो बहुत बड़ा छिपकिली जैसा जानवर होता है निकल कर पेड़ के और ऊपर चढ गया।

खैर बात हवेली के खंडहर की है। लल्लन हवेली के खंडहर में अक्सर पाए जाते थे। हवेली मुन्ने साहब के पर दादा की थी मगर अब वहाँ कोई रहता नहीं था। ख़ासी बड़ी हवेली। मशहूर था कि वहाँ भूत, शैतान, जिन्न सब एक साथ रहते हैं। लिहाज़ा वहाँ जाना ख़तरे के मुंह में जाना है। बस दो काम आती थी हवेली। दिन में लड़के झुण्ड में, अकेले नहीं, वहाँ जाकर पतंग उड़ाते थे और शाम ढले आशिक़ान-ए-जहां भूत, शैतान, जिन्न सब से मोर्चा लेते हुए हवेली को

पाकीजा बनाते। वह एक हवेली का खंडहर और आशिकान-ए-जहां न जाने कितने। मुलाक़ात हो जाना लाज़िमी ही था। अक्सर जोड़ों की मुलाक़ात भी हो जाती और आँखों आँखों में तय हो जाता कि हम लोगों ने एक दूसरे को देखा ही नहीं। हाँ परेशानी तब होती जब अँधेरे में एक से ज़्यादा जोड़े एक ही कमरे की पनाह लेते। एक रोज़ एक लड़का बेशर्मी पर उतर आया। शाम की लड़कों की बैठक। लल्लन मौजूद और बेशर्म ने वाक़या बयान कर दिया। बोला 'कल रात हम हवेलिया मा पहिले से रहेन। दुई लोगन की खुसफुसाहट सुनेन। हम दुइनों सांस रोक के दुबक गएन। का पता को है। मगर ऊ सारेन हमरेन तरफ आएगा। आहट तो आवै मगर देखाए न पड़ा। अब का करी। तो सोचा भूत चुड़ैल की आवाज़ निकाली तो शायद डेराये के भाग जाये नहीं तो हमहीं पकड़े जाब। निकारा जोर से चुड़ैलिया जैसी आवाज़। का सुना 'थाथुरी भाग हियाँ तुलैल है।' हम समझ गएँ लल्लनवा है। सार गिरा रहा ज़रूर चोट लाग होई। अब लल्लन ने आव देखा न ताव लगा पीटने लगे बेशर्म को। लेकिन तब तक लल्लन का काम तमाम हो चुका था।

(छब्बीसवीं क्रिस्त—15 दिसंबर, 2013)

ये सब मूल्य हैं कि दूरिया के दो प्रयोग हैं
राह का चांद निवादा से मुनका रहें
गेज से आउं तो चंडी कमी काली का अंश
तीखी वज्रा से पंहु टाय का अंश रहें
सच की पीचम जो 36157 0 1 1 1
हमला प्रवन्

गोच से लकी है अमात्र प्रकृत्य सुखलं
रह सुखल का भी उपाधि वा अंश का
आधिक्य कर ले तो शिव के अंश
की कुलका

काल ताज्जी से के हमा जी लखान
हम

गरी की गलिवोका बाकि रहें
इ शिव है म

बुर्शीदि अनवर